स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(ऐतिहासिक नाटक)

जयशंकर 'प्रसाद'



१९८५

प्रकाशक—
भारती भण्डार
(पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता)
बनारस सिटी

प्रथम संस्करण

मूल्य २॥)

मुद्रक—
माधव विष्णु पराडकर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय
काशी

निवेदन

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों ने हिंदी साहित्य के एक अंग की बड़ी ही सुन्दर पूर्ति की है। उनकी कल्पना कितनी मार्मिक और उच्चकोटि की है—इसके विषय में कुछ कहना वाचालता मात्र होगी।

उनके नाटक हमारे स्थायी साहित्य के भण्डार को अमूल्य रत्न देने के सिवा एक और महत् कार्य्य कर रहे हैं, वह है हमारे इतिहास का उद्धार। महाभारतयुग के 'नागयज्ञ' से लेकर हर्षकालीन 'राज्यश्री' प्रभृति नाटकों से वे हमारे लुप्त इतिहास का पुन निर्माण कर रहे हैं। ऐसा करने में चाहे बहुत-सी बातें कल्पना-प्रसूत हों, किन्तु प्रसाद जी की ये कल्पनायें ऐसी मार्मिक और अपने उद्दिष्ट समय के अनुकूल हैं कि वे उस सत्य की पूर्ति कर देती हैं जो विस्मृति के तिमिर में विलीन हो गया है।

किसी काल के इतिहास का जो गद्य है—अर्थात् महापुरुषों की वे कहानियाँ जिनके कारण उस काल के इतिहास ने एक विशिष्ट रूप पाया है—उसे यदि कोई लेखक अपने पाठकों के सामने प्रत्यक्ष रख सके तो उसने झूठ नहीं कहा, वह सत्य ही है। चाहे वास्तविक हो या कल्पित—

भगवान कृष्ण ने गीता के रूप में जो अमृत हमें दिया है उसका चाहे सौ पुराण भी रूप में वर्णन करें पर यदि उन रंगीन मटकों में से हम उस अमृत का पान कर सकते हैं तो वे सब-के-सब उसके लिये समुचित भाजन ही ठहरे—व्यर्थ के कृत्रिम आडम्बर नहीं।

गुप्त काल (२७५ ई०—५४० ई० तक) अतीत भारत के उत्कर्ष का मध्यान्ह है। उस समय आर्य्य साम्राज्य मध्यएशिया से जावा सुमात्रा

तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का झण्डा फहरा रहा था। इसी गुप्तवंश का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कंदगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहिले ही साम्राज्य में भीतरी षडयन्त्र उठ खड़े हुए थे। साथही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छा गया था और गुप्त-सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में लाखों विपत्तियाँ सहते हुए भी जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कंदगुप्त ने इस स्थिति से आर्य्य साम्राज्य की रक्षा की थी—पढ कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। अन्त में साम्राज्य का एक-छत्र चक्रवर्तित्व मिलने पर भी उसे अपने वैमात्र एव विरोधी भाई पुरगुप्त के लिये त्याग देना, तथा, स्वय आजन्म कौमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना—ऐसे प्रसग हे जो उसके महान-चरित पर मुग्ध ही नहीं कर देते बल्कि, देर तक सहृदयों को करुणासागर में निमग्न कर देते हैं।

कई कारणों से इस नाटक के निकाल देने में कुछ हफ्तों की देर हो गई। किन्तु उतनी ही देरी साहित्य प्रेमियों को—जो इसके स्वागत के लिये लालायित हो रहे थे—असह्य हो उठी है। उनके तगादे पर तगादे आ रहे हे। अतएव हम उनसे इस देर के लिये क्षमाप्रार्थी हे।

श्रावणी पूर्णिमा, '८१

—प्रकाशक

पुरुष-पात्र —

स्कन्दगुप्त—	युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त—	मगध का सम्राट —
गोविन्दगुप्त—	कुमारगुप्त का भाई
पर्णदत्त—	मगध का महानायक
चक्रपालित—	पर्णदत्त का पुत्र
बन्धुवर्म्मा—	मालव का राजा
भीमवर्म्मा—	उसका भाई
मातृगुप्त—	(काव्यकर्त्ता कालिदास)
प्रपंचबुद्धि—	बौद्ध कापालिक
शर्वनाग—	अन्तर्वेद का विषयपति
कुमारदास (धातुसेन)—	सिंहल का राजकुमार
पुरगुप्त—	कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
भटार्क—	नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन—	मन्त्री कुमारामात्य
खिंगिल—	हूण आक्रमणकारी
मुद्गल—	विदूषक
प्रख्यातकीर्त्ति—	लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधिविहार-स्थविर

महाप्रतिहार, महादण्डनायक, नन्दी ग्राम का दण्डनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

देवकी—	कुमारगुप्त की बड़ी रानी,—स्कंद की माता
अनन्तदेवी—	कुमारगुप्त की छोटी रानी,—पुरगुप्त की माता
जयमाला—	बन्धुवर्मा की स्त्री,-मालव की रानी
देवसेना	„ „ बहिन
विजया—	मालव के धनकुबेर की कन्या
कमला—	भटार्क की जननी
रामा—	शर्वनाग की स्त्री
मालिनी—	मातृगुप्त की प्रणयिनी

सखी, दासी इत्यादि

देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्य्यादा में विश्वासके लिये, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिये। आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज! इसी लिये मैंने कहा था कि, आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं। इसी की मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।

स्कंदगुप्त—सेनापते! सावधान! प्रकृतिस्थ होइये! परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्तसेना की मर्य्यादा को पर्णदत्त सदृश महावीर, अभी रक्षा के लिये प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त—राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ, उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर, उस बोझ को उठाने के लिये गुप्तकुल शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपने शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कंदगुप्त—आर्य्य! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी हैं?

पर्णदत्त—प्रमाण, प्रत्यक्ष है। प्रमाण अभी खोजना है? आँधी आने के पहले व्योम जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील-कादम्बिनी का मनोहर

साम्राज्य की नासीर सेना में पवित्र क्षात्रधर्म का—गरुड़ध्वज की छाया में पालन करते हुए, उसीके मान के लिए मर मिटें, —यही कामना है। गुप्तकुल-भूषण! आशीर्वाद दीजिये,—वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कदगुप्त—आर्य! (आप की वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं। तब भी सन्देह!)

पर्णदत्त—सदेह दो बातों से है युवराज!

स्कदगुप्त—ये दो बातें कौन-सी हैं?

पर्णदत्त—अपने अधिकारों के प्रति आप की उदासीनता और साम्राज्य की राजधानी में नित्य नये-नये परिवर्त्तन।

स्कदगुप्त—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?

पर्णदत्त—सभवत सम्राट पुष्पपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन को गगा-लाभ हो गया।

स्कदगुप्त—क्या कहा! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं? शोक!

पर्णदत्त—अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ सम्राट के विलास की मात्रा बढ़ गई है।

स्कदगुप्त—चिंता क्या! आर्य! अभी तो आप हैं, तब भी हमीं सब विचारों का भार वहन करें, अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिये?

पर्णदत्त—(रोष से)—किस लिये?—त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिये, शिशुओं को हँसाने के लिये, सतीत्त्व के सम्मान के लिये,

देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्य्यादा में, विश्वासके लिये, आतङ्क से प्रकृति को आश्वासन देने के लिये ! आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज ! इसी लिये मैंने कहा था कि, आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं। इसी की मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।

स्कंदगुप्त—सेनापते ! सावधान ! प्रकृतिस्थ होइये ! परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्तसेना की मर्य्यादा को पर्णदत्त सदृश महावीर, अभी रक्षा के लिये प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त—राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ, उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर, उस बोझ को उठाने के लिये गुप्तकुल शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपने शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कंदगुप्त—आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी हैं ?

पर्णदत्त—प्रमाण, प्रत्यक्ष है। प्रमाण अभी खोजना है ? आँधी आने के पहले व्योम जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर

आवरण महाशून्य पर चढ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त साम्राज्य की नहीं है ?)

स्कदगुप्त—क्या इस पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं ? (हँसता है)

पर्णदत्त—युवराज ! व्यंग न कीजिये। केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इति-श्री न समझिये, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये ! चरों ने आज ही कहा है कि, कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया ! तिस पर भी युवराज पूछते हैं कि, "अधिकारों का उपयोग किस लिये ?" यही 'किस लिये ?'—प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को "गले पड़ी"-वस्तु समझने लगे हैं।

(चक्रपालित का प्रवेश)

(देखकर)—अरे, युवराज भी यहाँ हैं ! युवराज की जय हो !

स्कदगुप्त—आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित—पिता जी ! प्रणाम। कैसी बात है ?

पर्णदत्त—कल्याण हो, आयुष्मन्। तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं, वे पूछते हैं—"अधिकार किस लिये?"

चक्र०—तात ! इस 'किस लिये'—का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्ण०—क्या ?

चक्र०—गुप्तकुलका अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम।

स्कन्दगुप्त—चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्र०—युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

पर्ण०—(गभीरता से)—चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हमलोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चचलता को विपन्वृत्त का बीज न बना।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिये। चक्र हार्दिक बातों को राजनैतिक भाषा मे व्यक्त करना नहीं जानता।

पर्ण०—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। (देखकर) चर आ रहा है, कोई युद्ध का नया समाचार है क्या ?

(चर का प्रवेश)

"युवराज की जय हो !"

पर्ण०—क्या समाचार है ?

चर—अब की बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है, वे अपनी समस्त शक्ति सकलित करके बढ रहे हैं। नामीर सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कद०—अच्छा जाओ, उसे भेज दो।

(चर जाता है, दूसरे दूत का प्रवेश)

'युवराज भट्टारक की जय हो !'

स्कद०—मालवपति सकुशल हैं ?

दूत—कुशल आपके हाथ है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरांत हो गया। नवीन नरेश महाराज बधुवर्मा ने साभिवादन श्री चरणों मे सदेश भेजा है।

स्कद०—खेद ! ऐसे समय में जब कि हम लोगों को मालव-पतिसे सहायता की आशा थी, वह स्वय कौटुम्बिक आपत्तियों मे फँस गये हैं !

दूत—इतना ही नही, शक-राष्ट्रमडल चचल हो गया है। नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र पदाक्रात हो रहा है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित नहीं रहा।

(स्कदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं)

पर्ण०—वलभी का क्या समाचार है ?

दूत—वलभी का पतन रुका है। वर्बर हूणों से उसका बचना भी कठिन है । मालव की रक्षा के लिये महाराज बन्धुवर्म्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कद०—मालव और शक युद्ध में जो सधि, गुप्त साम्राज्य और मालव-राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार, मालव की रक्षा के लिये गुप्त सेना का प्राण-विसर्जन—कर्त्तव्य है। महाराज विश्ववर्म्मा के समय मे ही सम्राट कुमारगुप्त उनके सरक्षक हैं। परन्तु दूत ! यड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषम व्यवस्था है युवराज ! साम्राज्य ने सरक्षकता का भार लिया है।

पर्ण०—दूत ! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है ?

दूत—तब भी मालव ने कुछ समझ कर, किसी आशा पर, अपनी स्वतत्रता की सीमा कर दी थी।

स्कंद०—दूत ! केवल सन्धि-नियम ही से हम बाध्य नहीं हैं, किंतु, शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रों की गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिये सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते, मालव का कुछ न बिगड सकेगा।

दूत—धन्य है ! आर्य्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है। (प्रणाम करके जाता है)

पर्ण०—युवराज ! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नहीं, गुप्तसाम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी।

चक्र०—तात ! पुष्यमित्र युद्ध का अन्त तो समीप प्राय है ! विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिये। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कन्द०—नहीं चक्र, तुम विनयी होकर मुझसे मालव में मिलो ! ध्यान रखना होगा कि, राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद में अपना ही भरोसा है।

पर्ण०—कुछ चिंता नहीं युवराज, भगवान सब मगल करेंगे इसलिये विश्राम करें।

(पट परिवर्त्तन)

(कुसुमपुर में कुमारगुप्त का राजमंदिर)

धातुसेन—सम्राट परम भट्टारक ! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं ! मैंने तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड हिला देने से ही इतना बडा गुप्त साम्राज्य स्थापित हो गया था—परंतु—

कुमारगुप्त—(लेटे हुए हँसता है)—तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते ? क्यों धातुसेन !

धातुसेन—राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दर भी एक सुग्रीव हो गया था। दक्षिण-पथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परंतु हाँ, एक आश्चर्य्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पडा ! रामचंद्र ने तो, सुना था, जब वे युवराज भी नहीं थे, तब युद्ध किया था। सम्राट होने पर भी युद्ध !

कुमार०—युद्ध तो करना ही पडता है,—अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है।

धातु०—अच्छा तो स्वर्गीय आर्य्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य विजय किया था, सो उनके लिये परम आवश्यक था ? क्या पाटलीपुत्र के समीप ही वह राज्य था ?

कुमार०—तुम भी बालि की सेना में से कोई बचे हुए हो !

धातु०—परम भट्टारक की जय हो। वह सेना न थी, वह तो प्रद्युम्न था। जब उसमें लड्डू खाने वाले सुग्रीव निकल पडे, तब फिर—

कुमार०—क्यों ?

धातु०—उनकी सुन्दर ग्रीवा में लड्डू अत्यंत सुशोभित होता था, और सब से भारी बात तो थी वालि के लिये—उनकी तारा का मन्त्रित्व ! सुना है सम्राट ! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और वास्तविक होती है, इसीलिये उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दुहाई ! एक स्त्री को मंत्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी-मूँछ वाले मंत्रियों के बदले, उसकी एकांत मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी।

कुमार०— (हँसते हुए)—लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातु०—तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिये स्त्री हो जाँय, क्यों कुमारमात्य जी ?

पृथ्वीसेन—पर तुम तो स्त्री नहीं हो, जो तुम्हारी सम्मति मुझे माननीय हो।

कुमार०—(हँसता है)—हाँ तो आर्य्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों को दमन करना पड़ा, क्योंकि, मौर्य्य साम्राज्य के समय से ही सिंधु के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य्य सम्राट चंद्रगुप्त ने लिया था।

धातु०—फिर तो लड़कर ले लेने की एक परम्परा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य !

कुमार०—उँह ! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातु०—नहीं धर्म्मावतार ! समझ में तो इतनी बात आगई

कि, लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भट्टारक०—नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँग कर मिल भी जाय तो शान्ति की रक्षा कौन करेगी—यदि शक्ति नहीं?

मुद्गल—(प्रवेश करके)—रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा, परन्तु, इस अक्षय मंजूषा का हाल बिना मेरे कोई नहीं जानता। इसके भीतर कुछ रख कर देखो मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ।

(पद्मासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन—परम भट्टारक की जय हो। मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो।

कुमार०—हाँ, हाँ, कहिये।

पृथ्वीसेन—शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कंधावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी आगया है कि, 'हम ससैन्य युवराज की सहायतार्थ प्रस्तुत हैं।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमार०—मालव का इस अभियान से कैसा भाव है कुछ पता चला? क्योंकि, यह युद्ध तो जान-बूझ कर छोड़ा गया है।

पृथ्वी०—अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि, युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने ही से मैं स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमार०—महासन्धि विग्रहिक ! साधु ! यह वंश-परम्परागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन—सम्राट के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है। इसीलिए युवराज को वहाँ भेजने के लिये मेरा अनुरोध था।

भट्टारक—सौराष्ट्र की गति विधि देखने के लिये एक सामान्य सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक-राष्ट्र बड़ा भयानक है।

पृथ्वीसेन—(गूढ दृष्टि से देखते हुए)—महाबलाधिकृत ! आवश्यकता होने पर आप को वहाँ जाना ही होगा, अभी उसकी आवश्यकता नहीं।

भट्टारक—नहीं, मैं तो

कुमार०—महाबलाधिकृत ! तुम्हारी सम्मति विचारणीय होगी। अभी घबराने की आवश्यकता नहीं।

धातुसेन—(हाथ जोड कर)—यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का उद्योग हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं स्वच्छन्दता-पूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी मार्ग बता दूँगा।

(सब हँसते हैं)

मुद्गल—जय हो देव ! पाकशाला पर आक्रमण करने की आज्ञा मुझे मिले ! मैं अभी उसका सर्वनाश कर आऊँ !

(सब हँसते हैं। गम्भीर भाव से अभिवादन करके एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भट्टारक का प्रस्थान।)

कुमारगुप्त—मुद्गल ! तुम्हारा कुछ

मुद्गल—जय हो देव ! महादेवी ने प्रार्थना की है कि, युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिये, चक्रपाणि भगवान की पूजा की सब सामग्री प्रस्तुत है। आर्य्यपुत्र कब चलेंगे ?

कुमार०—(मुँह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्तकियाँ आने वाली हैं, आपानक भी हैं। महादेवी से कह देना, असन्तुष्ट न हों, कल चलूँगा। समझा न मुद्गल !

मुद्गल—(खड़ा होकर)—जय हो—परमेश्वर परम भट्टारक की ! (जाता है)

धातुसेन—यह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि, राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिये।

कुमार०—यह राष्ट्र-नीति है।

(अनन्तदेवी का चुपचाप प्रवेश)

धातु०—भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि, राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों सी सन्तान उत्पन्न हों ?

अनन्तदेवी—(सामने आकर)—आर्य्यपुत्र की जय हो !

(धातुसेन मुँह बनाकर चुप हो जाता है)

कुमार०—आओ प्रिये ! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्त०—नर्तकियों को बुलवाती हुई चली आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि थे, मन्त्रणा में बाधा समझ कर, जान-बूझ कर देर लगाई।

(धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमार०—वह अतीव विदेशी हँसोड़ है।

अनन्त०—तब भी सीमा होनी चाहिये।

धातु०—चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उसके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही, यह फल मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ। क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

प्रनत०—पूछ लो।

धातु०—उसके अनर्थ शास्त्र में विष कन्या का

कुमार०—चुप रहो।

(नर्तकियों का प्रवेश)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन तार कोकिल!
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल!

हृदय धूल में मिला दिया है,
उसे चरण चिन्ह-सा किया है।
खिले फूल सब गिरा दिया है,
न अब बसंत बहार कोकिल!

सुनी बहुत आनंद भैरवी,
विगत हो चुकी निशा-माधवी।
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मधा की फुहार कोकिल!

न खोज पागल मधुर प्रेम को,
न तोड़ना और के नेम को।
बचा विरह मौन के क्षेम को,
कुचाल अपनी सुधार कोकिल!

(पट-परिवर्त्तन)

(पथ में मातृगुप्त)

कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और कवि-अनन्त-उत्कण्ठा से जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कह कर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना ! लक्ष्मी के लालों का भ्रूभंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या ?—एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया से अपना अस्तित्व रखता है। संचित हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, इस विषम अवस्था की कौन व्यवस्था करेगा। मनोरथ को—भारत के प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित को,—परास्त करने वाले लोगों में मैं भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परंतु, क्या हुआ ?

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—कहिये कवि जी। आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े। कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन कार्य मिल गया क्या ?

मातृगुप्त—मैं तो अभी यों ही बैठा हूँ।

मुद्गल—क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है ? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो ? भैया ! उसे छोड़ कर संसार-भर का काम करना।

मातृगुप्त—क्यों ? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है। कवित्व—वर्णमय-चित्र है, जो स्वर्गीय भाव-पूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का

चेतन से, और वाह्य जगत का अन्तर्जगत से सम्बन्ध कराना—कविता का मुख्य उद्देश है।

मुद्गल—परन्तु, हाथ का मुख से, पेट का अन्न से, और आँखों का निद्रा से भी सबंध कराता है कि नहीं?—इसको भी कभी सोचा विचारा है?

मातृगुप्त—संसार में क्या इतनी ही वस्तु विचारने की हैं? पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्गल—और मनुष्य क्या पशु से कुछ भिन्न है? उसे बातें बनाना आता है, अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढाना आता है। क्योंकि, वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी इन्हीं घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ा कर सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त—होगा, तुम्हारा तात्पर्य्य क्या है?

मुद्गल—विचार-पूर्ण स्वप्न-मय जीवन छोड़ कर वास्तविक स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिये दया आती है।

मातृगुप्त—क्या करूँ?

मुद्गल—मैं दो-चार दिन में अवती जाने वाला हूँ, युवराज भट्टारक के पास तुम्हे रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी। है स्वीकार?

मातृगुप्त—परन्तु तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यो?

मुद्गल—तुम्हारी बुद्धिमत्ता देख कर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। उसी दिन से मैं खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा का

अधिकारी होने के लिये समय और चापलूसी की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो, ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं।'

मातृगुप्त—तब तो बड़ी कृपा हुई। मै अवश्य चलूँगा। काश्मीरमंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत विद्या का कोई पूछने वाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़ कर, राजधानी में चला आया। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल—अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा। तुम चलने के लिये प्रस्तुत रहना।

(जाता है)

मातृगुप्त—काश्मीर! जन्मभूमि!! जिसकी धूलि में लोट कर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल कर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, छूट गया। और छूट गया एक मनोहर स्वप्न!! आह! वही तो मेरे इस जीवन का पाथेय रहा।

प्रिय!

संसृति के वे सुंदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी'—कह कर मन मत बहलाना॥
मादकता सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से, उठ कर अधर चूमने को ठहरी॥
मैं व्याकुल परिरंभ मुकुल में बंदी अलि सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा॥
सजग सुप्त सौन्दर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगीं मेरे मधु से छाती छिलने॥

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से॥
उस सुख का आलिङ्गन करने कभी भूल कर आ जाना।
मिलन क्षितिजतट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना॥

कुमारदास—(प्रवेश करके)—साधु!

मातृगुप्त—अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, सन्ध्या को शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुरिमा का, उस सौन्दर्य्य का, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर हमने हाथ बढ़ाया था, वहीं, वहीं स्वप्न टूट गया।

कुमारदास—समझ में नहीं आया, सिंहल में और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो, लाम्बे हो, खिंची हुई भौंहें हैं, तब होने पर भी सिंहलियों की घुँघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या-क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं।

मातृगुप्त—पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अञ्चल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बड़वानल को अनन्त जलराशि से जो सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो, रत्नाकर नीचा है गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की! हाँ उस हिमालय के

अधिकारी होने के लिये समय और चापलूसी की आवश्यकता है। बडे लोगो की एक दृढ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो, ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं।'

मातृगुप्त—तब तो बडी कृपा हुई। मै अवश्य चलूँगा। काश्मीरमडल में हूणों का आतक है, शास्त्र और सस्कृत विद्या का कोई पूछने वाला नही। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड कर, राजधानी में चला आया। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल—अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा। तुम चलने के लिये प्रस्तुत रहना।

(जाता है)

मातृगुप्त—काश्मीर! जन्मभूमि!! जिसकी धूलि में लोट कर खडे होना सीखा, जिसमें खेल कर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु सगठित हुए थे, छूट गया! और टूट गया एक मनोहर स्वप्न!! आह! वही तो मेरे इस जीवन का पाथेय रहा!

प्रिय!

संसृति के वे सुदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी'—कह कर मन मत बहलाना॥
मादकता सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से, उठ कर अधर चूमने को ठहरी॥
मैं व्याकुल परिरंभ मुकुल में बन्दी अलि सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा॥
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगी मेरे मन से छाती छिलने॥

श्यामा का परिधान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए, फिर क्यों देखने मुझे पथिक पहचाने-से॥
उस सुख का आलिङ्गन करने कभी भूल कर आ जाना।
मिलन क्षितिजतट मधु जलनिधि में मृदु हिल्लोर उठा जाना॥

कुमारदास—(प्रवेश करके)—साधु !

मातृगुप्त—अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल पहल थी। सवेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, सध्या को शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थीं। उस मधुरिमा का, उस सौंदर्य्य का, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर हमने हाथ बढ़ाया था, वहीं वहीं स्वप्न टूट गया।

कुमारदास—समझ में नहीं आया, सिंहल में और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो लाम्बे हो, खिंची हुई भौंहें हैं, सब होने पर भी सिंहालियों की घुघुराली लटें उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या-क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं।

मातृगुप्त—पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अञ्चल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बडवानल को अनन्त जलराशि से जो सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो, रत्नाकर नीचा है गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की! हाँ उस हिमालय के . .

मातृगुप्त—उस हिमालय के ऊपर सबेरे सूर्य्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीले पोखराज का-सा एक महल था, उसमें नवनीत की पुतली झाँक कर देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया! पुतली! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की गर्म्म शीतलता उसे सुरक्षित रक्खे। कल्पना की भाषाके पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र!

कुमारदास—तुम विद्वान हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह!

मातृगुप्त—यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तब उस इन्द्र जाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और गर्म-रक्त का फुहारा छोड़ने वाले हृदय को आहार मिले।

कुमारदास—मित्र! तुम्हारी कोमल-कल्पना, वाणी की वीणा में झनकार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट हो, प्रतिभाशील हो। युवक! तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्वल है।

मातृगुप्त—उसकी चिंता नहीं। दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया हो! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास—मित्र! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मैं सिंहल जाता हूँ—देशकी पुकार है। इसलिए मैं स्वर्गोंका देश—भव्यभारत—छोड़ता हूँ।

कविवर ! इस क्षीण-परिचय कुमारधातुसेन को भूलना मत—कभी आना।

मातृगुप्त—सम्राट कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास ! तुम क्या कुमार धातुसेन हो ?

कुमारदास—हाँ मित्र, लङ्का का युवराज। हमारा एक मित्र एक बाल सहचर, प्रख्यातकीर्ति, महाबोधि बिहारका श्रमण है, उसे देखने और गुप्त साम्राज्य का वैभव देखने, पर्यटक के रूप से भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा और देखा दर्प से उद्धत गुप्त साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य्य। आर्य्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त—सम्राट कुमारगुप्त का साम्राज्य ! और परिवर्तन !!

धातुसेन—सरल युवक ! इस गतिशील जगतमें परिवर्तन पर आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय—हुआ !! परिवर्तनही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शाति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय मनुष्य और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुञ्जी है। पुरुष उछाल दिया जाता है। उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का रहस्य है।

मातृगुप्त—निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं, अद्भुत पहेली है।

धातुसेन—पहेली, रहस्य यह तो हई है। और मनुष्य क्या—

रहस्य है—कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री विश्लेषण है, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल उसके अभावों को परिपूर्ण करने की उष्ण चेष्टा और और शीतल उपचार। अभागा मनुष्य सतुष्ट है—बच्चों के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा', बस, वह 'कॉंव-कॉंव' रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट, तरुणी की आकांक्षाओं के साधन हो रहे हैं। काले मेघ क्षितिज मे एकत्र हो रहे हैं, शीघ्रही अन्धकार होगा। परतु आशा का केंद्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कद' है। सर्वसहा वसुधरा तो सह लेती है, परन्तु, निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है। तुम भी सभवत उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान, सिंहल तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। (प्रस्थान)

मातृगुप्त—विचक्षण उदार राजकुमार।

(प्रस्थान)

(अनन्त देवी का प्रकोष्ठ)

अनन्तदेवी—विजया ! रात्रि का द्वितीय पहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

विजया—स्वामिनी ! बड़ा भयानक खेल है।

अनन्त०—क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिये उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

विजया—परंतु स्वामिनी, राजकीय अंतःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनन्त०—अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी, तू अपनी शिक्षा रहने दे। देख तो समय हो गया है।

(विजया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्त द्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है।)

भटार्क—महादेवी की जय हो !

अनन्त०—परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?

भटार्क—हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनत०—मुझे विश्वास नहीं।

भटार्क—~~मुझे अंतःपुर में आने का साहस होता ? नहीं,~~ महादेवी ! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यङ्ग-बाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ-चुभ

रहस्य है—कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री विश्लेषण है, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल उसके अभावों को परिपूर्ण करने की उष्ण चेष्टा और और शीतल उपचार! अभागा मनुष्य संतुष्ट है—बच्चों के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा', बस, वह 'काँव-काँव' रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट, तरुणी की आकांक्षाओं के साधन हो रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हो रहे हैं, शीघ्रही अन्धकार होगा। परंतु आशा का केंद्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कंद' है। सर्वसहा वसुंधरा तो सह लेती है, परन्तु, निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है। तुम भी संभवत उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान, सिंहल तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। (प्रस्थान)

मातृगुप्त—विचक्षण उदार राजकुमार!

(प्रस्थान)

(अनन्त देवी का प्रकोष्ठ)

अनन्तदेवी—विजया ! रात्रि का द्वितीय पहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

विजया—स्वामिनी ! बड़ा भयानक खेल है।

अनन्त०—क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से शंकित होते हैं, जो अपनी स्वाँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिये उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

विजया—परंतु स्वामिनी, राजकीय अंतःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनन्त०—अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी, तू अपनी शिक्षा रहने दे। देख तो समय हो गया है।

(विजया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्त द्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है।)

भटार्क—महादेवी की जय हो !

अनन्त०—परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?

भटार्क—हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनन्त०—मुझे विश्वास नहीं।

भटार्क—मुझे अंतःपुर में आने का साहस होता ? नहीं, महादेवी ! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यङ्ग-बाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ-चुभ

कर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने अपना, हृदय का, मार्मिक रहस्य अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान-बूझ कर—समझ कर। मेरा हृदय शूलों के लौह फलक सहने के लिये है, क्षुद्र विष-वाक्य-बाण के लिये नहीं।

अनन्त०—तुम वीर हो भटार्क। यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन की शंका हो रही है। महाबलाधिकृत! दुर्बल माता का हृदय उसके लिये आज ही से चिन्तित है, विकल है। सम्राट की मति एक-सी नहीं रहती, वह अव्यवस्थित और चंचल है। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सूत्रों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं।

भटार्क—मैं सब समझ रहा हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ। मैं दूध पीने वाला शिशु नहीं हूँ। और यह भी मुझे स्मरण है कि, पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ महादेवी! आप निश्चिन्त रहें।

अनन्त०—पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिये मैंने भी कुछ समझ कर उद्योग नहीं किया भटार्क! सावधान, क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

क्यों, समझ लिया था कि इन मुंडित मस्तक जीर्ण कलेवर भिक्षु-कंकालों में क्या धरा है! देखो—शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्ड-मालाओं की कंदुक क्रीडा! अश्वमेध हो चुके, उसके फल स्वरूप महानरमेध की प्रस्तावना तुम पढ़ सकते हो। (देखकर) हैं तुझमें—तू करेगा? अच्छा महादेवी! सावधान! अमावस्या के पहले प्रहर में, जब नील, भयानक, उज्वल उल्कापात होगा, उसी समय, महाशून्य की खोखले की ओर देखना! सावधान! जाता हूँ।

(प्रस्थान)

भटार्क—महादेवी! यह भूकंप के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है? ओह, मेरा तो सिर घूम रहा है!

अनंत०—यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि हैं।

भटार्क—तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नरपिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिये प्रस्तुत हूँ।

अनन्त०—तब प्रतिश्रुत होते हो?

भटार्क—दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनन्त०—अच्छा, तुम इसी गुप्त द्वार से जाओ। देखूँ अभी कादम्ब की मोह-निद्रा से सम्राट जगे कि नहीं।

विजया—(प्रवेश करके)—परम भट्टारक अँगड़ाइयाँ ले रहे हैं। स्वामिनी, शीघ्र चलिये।

अनंत०—तू जा, शीघ्र एक पात्र आँख खुलते ही पिलाना, मैं आती हूँ।

(विजया का प्रस्थान)

भटार्क—तो महादेवी, आज्ञा हो।

अनन्त०—(देखती हुई)—भटार्क! जाने को कहूँ! इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला इतना—आह (आँसू पोंछती है)

भटार्क—धीरज धरिये। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास रखिये।

अनन्त०—तो भटार्क, जाओ।

(विजया का सहसा प्रवेश)

चलिये शीघ्र!

(दोनों जाते हैं)

भटार्क—रहस्य! एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का बीज है। ओह, कितनी साहसशीला स्त्री है! देखूँ, गुप्त साम्राज्य के भाग्य की कुंजी किधर यह घुमाती है। परन्तु इसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की अटल प्रवञ्चना कपोलों पर रक्त होकर क्रीडा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है। परंतु अच्छा चलूँ, यह विचार करने का स्थान नहीं है।

(गुप्तद्वार से जाता है)

(पट-परिवर्तन)

(अत पुरका द्वार)

शर्वनाग—(टहलता हुआ)—कौनसी वस्तु देखी ? किस सौंदर्य्य पर मन रीझा ? कुछ नहीं, सदैव इसी सुंदरी खड्गलता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुंदर है। और भय से तो मेरा परिचय नहीं। परंतु हा, वह मेरी स्त्री जिसके अभावों का कोप कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भाण्डार अक्षय है, उससे मेरी अंतरात्मा कँप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर मे जान छूटी, परंतु, रात बड़ी भयानक है। चलूं अपने स्थान पर बैठूँ। सुनता हूँ कि, परम भट्टारक की अवस्था अत्यंत शोचनीय है—जाने भगवान ..

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—कौन ?

शर्वनाग—नायक शर्वनाग।

भटार्क—कितने सैनिक हैं ?

शर्व०—पूरा एक गुल्म।

भटार्क—अंत पुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्व०—नहीं।

भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्व०—मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?

भटार्क—महादेवी के द्वार पर।

शर्व०—वहाँ मेरा क्या कर्त्तव्य होगा ?

भटार्क—कोई न तो भीतर जाने पावे और न भीतर का बाहर।

रामा—महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? आज इस समूचे गुप्त साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो साम्राज्ञी की रक्षा करे ! शत्रु अपने विषैले डङ्क, और तीखे डाढ सँवार रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमन्त्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है।

शर्व०—यही तो मैं भी कभी-कभी सोचता था। परंतु

रामा—तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर आओ, मैं जाती हूँ।

(जाती है)

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसनी करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है। पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान'—रहने का शब्द मैं चिल्ला कर कहता हूँ, परंतु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है नायक ?

शर्व०—तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गई है ?

सैनिक—म्यान हलकी-सी लगती है, टटोलता हूँ—पर,

शर्व०—तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सब को सचेत रक्खो। हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं।

(सैनिक जाता है, फाटक खोल कर पुरगुप्त निकलता है, पीछे भटार्क और सैनिक।)

पुरगुप्त—नायक शर्वनाग !

(अंत पुर से क्षीण क्रंदन)

महादण्डनायक—(कान लगाकर सुनते हुए)—क्या, सब शेष हो गया ! हम अवश्य भीतर जायगे। (तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोल कर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश।)

पृथ्वीसेन—भटार्क ! यह सब क्या है ?

भटार्क—(तलवार खींच कर सिर से लगाता हुआ)—परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार ! साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन करिये।

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब ससार में नहीं हैं ?

भटार्क—नहीं।

पृथ्वीसेन—परतु, उत्तराधिकारी युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगों को बैठ कर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वय स्वर्गीय सम्राट कर गये हैं।

पृथ्वीसेन—परतु प्रमाण ?

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बदी करो।

(भटार्क आगे बढता है)

महाप्रतिहार—(चौंक कर)—आज्ञा ! किसकी आज्ञा ? अमोघ ! तू नहीं जानता—सम्राट के अतःपुर पर स्वयं सम्राट का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का, शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक—दण्ड दीजिये प्रभु, परंतु द्वार नहीं खुल सकेगा।

महाप्रति०—तू क्या कह रहा है !

नायक—जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य—(पैर पटक कर)—ओह् षडयंत्र ! प्रतारणा !!

दण्डनायक—विलम्ब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ !

महाप्रति०—मैं आज्ञा देता हूँ कि, तुम अतःपुर से हट जाओ युवक ! नहीं तो तुम्हे पदच्युत करूँगा।

नायक—यथार्थ है। परंतु, मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हींका अधीन सैनिक हूँ। महाप्रतिहार के अतःपुर रक्षकों में मैं नहीं हूँ।

महाप्रति०—क्या अतःपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ! पृथ्वीसेन !

पृथ्वीसेन—इसका परिणाम भयानक है। अंतिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रति०—अच्छा,—(कुछ देख कर)—हाँ, शर्वनाग कहाँ गया ?

नायक—उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रति०—(पैर पटक कर)—मूर्ख शर्वनाग !

(अंतःपुर से क्षीण क्रंदन)

महादण्डनायक—(कान लगाकर सुनते हुए)—क्या, सब शेष हो गया ! हम अवश्य भीतर जायँगे । (तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोल कर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश ।)

पृथ्वीसेन—भटार्क ! यह सब क्या है ?

भटार्क—(तलवार खींच कर सिर से लगाता हुआ)—परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार ! साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन करिये ।

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं ?

भटार्क—नहीं ।

पृथ्वीसेन—परंतु, उत्तराधिकारी युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो । तुम लोगों को बैठ कर व्यवस्था नहीं देनी होगी । उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं ।

पृथ्वीसेन—परंतु प्रमाण ?

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य ।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बंदी करो ।

(भटार्क आगे बढ़ता है)

(पथ, नगर, प्रांत)

मुद्गल—किसी के सम्मान-सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है, और भटकते, थकते, उछलते, कूदते, ठोकर लेते और लुढ़कते—हाथ-पैरकी पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम और कहाँ यह काम !—मूलस्थानपुर की दौड, कुसुमपुरी से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान। इस बार की आज्ञा तो पालन करता हूँ, परतु, यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टाग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठ कर विचार कर लूँ कि सैकडों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोडा चल कर काम लेना।

(गठरी रख कर बैठ कर ऊँघने लगता है, मातृगुप्त का प्रवेश।)

मातृगुप्त—मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिये भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा। चलें इसे कुछ तग करें, थोडी दिल्लगी ही सही।

(कपडे से मुँह छिपा कर, गठरी खींच कर चलता है)

मुद्गल—(उठ कर)—ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो। (मातृगुप्त चक्कर मारता है, मुद्गल पीछे-पीछे दौडता है।)

मातृगुप्त—(दूर खडा हो कर)—अब आगे बढे कि तुम्हारी टाँग टूटी।

मुद्गल—अपनी गठरी बचाने में टाँग टूटना बुरा नहीं,

अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डंडा न दिखाओ। मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है? बोलो--

मातृगुप्त--न्याय? तब तो तुम आप्तवाक्य अवश्य मानते होगे।

मुद्गल—अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा?

मातृगुप्त—हाँ, तुमने गीता पढ़ी होगी?

मुद्गल—हाँ अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े।

मातृगुप्त—उसमें तो लिखा है कि—"नत्वेवाहं जातुनासौ नत्वनेमे—" न हम हैं न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है न हमारी, फिर इस छोटी सी गठरी के लिये इतना झगड़ा।

मुद्गल—ओहो तुम नहीं समझे।

मातृगुप्त—क्या?

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ?

मातृगुप्त—महाभारत।

मुद्गल—तब भइया, इस गठरी के लिये महाभारत का एक लघु-संस्करण आवश्यक है। गठरी हाथ लगाया कि डंडा लगा—(डंडा तानता है)

मातृगुप्त—मुद्गल, डंडा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूक्ष्म भाग के लिये दूध और मधु से बना हुआ एक बूँद रक्त भी गिराऊँ।

(गठरी देता है)

मुद्गल—अरे कौन ! मातृगुप्त !

(नेपथ्य में कोलाहल)

मातृगुप्त—हाँ मुद्गल । इधर तो शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैलाये हुए है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है । निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है ।

मुद्गल—और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवन्ती गया, वहाँ युवराज नहीं थे । बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त को जिस तरह हो, खोज निकालो । यहाँ तो विकट समस्या है । हम लोग क्या कर सकते हैं ?

मातृगुप्त—कुछ नहीं, केवल भगवान से प्रार्थना । साम्राज्य में कोई सुनने वाला नहीं,अकेले युवराज स्कंदगुप्त क्या करेंगे ?

मुद्गल—परंतु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं । इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती, मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं ।

मातृगुप्त—नहीं मुद्गल, इन निरीह प्रजाओं का नाश देखा नहीं जाता । क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश था ? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिये है ? देखो—वह दूर पर बँधे हुए नागरिक, और, हूणों की निर्दयता ! ओह !!

मुद्गल—अरे ! हाय-रे बाप !!

मातृगुप्त—मुद्गल ! सावधान ! असहाय अवस्था मे प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ हम लोग भगवान से विनती करें—

उतारोगे अब कब भू भार ?
बार-बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार ॥
उमड रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार ।
वाडव लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार ॥
प्रलय-पयोधर बरस रहे हैं रक्त-अश्रु की धार ।
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार ॥
पडा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार ?
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार ॥
(हूण-सैनिकों का प्रवेश—कैदियों के साथ ।)

हूण—चुप रह, क्या गाता है ?

मुद्गल—हैं हैं, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ । आप भी कुछ दीजियेगा ? (दीन मुद्रा बनाता है)

हूण—(धक्का देते हुए)—चल एक ओर खड़ा हो । हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े दुष्ट हैं ।

नागरिक—हम निरीह प्रजा हैं । हम लोगों के पास बचा रह गया, जो आप लोगों को दें । सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है ।

हूण-सेनापति—तुम लोग बड़े नीच हो । बात बनाना खूब जानते हो । अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं । कोड़े और तेल में तर कपडे भी । उस कष्ट को स्मरण करो ।

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, जब चाहे ले लो ।

हूण-सेनापति—(कोड़े से मारता हुआ)—उसे तो ले ही लेंगे पर, धन कहाँ है ?

नागरिक—नहीं है निर्दय ! हत्यारा ! कह दिया है कि नहीं है।

हूण-सेनापति—(सैनिकों से)—इनके बालकों को तेल से भींगा हुआ कपडा डाल कर जला दो और स्त्रियों को गर्म लोहों से दागो।

स्त्रियाँ—हे नाथ !

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो ?
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो ?

पुरुष—नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या ?
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो।

स्त्रियाँ—पुकारा जब किसी ने तब सुना था,
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो !

(हूण स्त्रियों को पकड़ कर खींचते हैं)

मातृगुप्त—हे प्रभु !

हमें विश्वास दो अपना बना लो।
सदा स्वच्छन्द हों—चाहे जहाँ हों॥

इन निरीहों के लिये प्राण-उत्सर्ग करना धर्म्म है। कायरो ! यह स्त्रियों पर अत्याचार !!

(तलवार से बचन काटता है, टपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश।)

सन्यासी—साधु ! वीर ! सम्हल कर खड़े हो जाओ—भगवान पर विश्वास करके खड़े हो।

तनी तलवार हो लाखों नहीं डर,
तुम्हारे जो इशारे में न हों हो।

मुद्गल—(पहचानता हुआ) जय हो—महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो।

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं, हूण-सैनिक भागते हैं।)

गोविन्द०—युवक ! तुम कौन हो ?

मातृगुप्त—युवराज स्कंदगुप्त का अनुचर।

मुद्गल—वीर पुङ्गव। इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेष में।

गोविन्द०—मुद्गल ! क्या कहूँ। स्कंद कहाँ है ?

मातृगुप्त—उज्जयिनी में।

गोविन्द०—अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है, वहाँ विश्राम करो। यहाँ का प्रबंध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब—जय हो राजकुमार गोविन्दगुप्त की !

गोविन्द०—पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

मातृगुप्त—विजय हुई।

गोविन्द०—और मालव का ?

मुद्गल—युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्म्मा की सहायता के लिये गये हैं।

गोविन्द०—वीरपुत्र है। स्कन्द ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें। आर्य्य साम्राज्य के तुम्हीं एक मात्र भरोसा हो।

मुद्गल—तब महाराज-पुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये।

गोविन्द०—हाँ-हाँ, सब लोग चलो (हँसता है)

(सब जाते हैं)

(७)

अवन्ती का दुर्ग।

(देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया—विजय किसकी होगी—कौन जानता है।

जयमाला—तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है!

देवसेना—और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।

विजया—(सकुचित हो कर)—नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला—परन्तु एक उपाय है।

विजया—वह क्या ?

जयमाला—रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना—परन्तु तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला—तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अश, वही यदि इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता तो

विजया—किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है!

जयमाला—ठहरो—कोई आ रहा है।

(बन्धुवर्म्मा का प्रवेश)

बधुवर्म्मा—प्रिये! अभी तक युवराज का कोई सदेश नहीं मिला! सभवत शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी आज दुर्ग-अवरोध कर लेगी!

मुद्गल—तव महाराज-पुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये।

गोविन्द०—हाँ-हाँ, सब लोग चलो (हँसता है)

(सब जाते हैं)

जयमाला—युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद नहीं है? भैरवी का ताण्डवनृत्य, महाकाली का विकट गान, शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन रहस्य का चरम सौन्दर्य, नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनो तो! हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में मङ्गल का, शिव का, सत्य सुंदर संगीत होता है, उसे देखना भाग्य का खेल है।

देवसेना—तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं।

जयमाला—तो गाओ न।

विजया—रानी! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो, या स्त्री हो? देवी! ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग।

जयमाला—सुनो, देवसेना गा रही है—

(गाना)

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल-अनूप॥
जल-थल, मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर।
खोज-खोज कर खो गई मैं, पागल प्रेम-विभोर॥
भाँग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनों में मन में रूप॥

जयमाला—नाथ ! तब क्या मुझे स्कदगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पडो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ ।

विजया—महाराज ! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिये ।

बन्धुवर्म्मा—घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्या ।

जयमाला—स्वर्ण-रत्न की चमक में देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं । श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसङ्गिनी खड्गलता का हम लोगों से अभिन्न और अनत स्नेह है ।

बन्धुवर्म्मा—प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिये। अच्छा दुर्ग का तो नहीं, अत पुर का भार तुम्हारे ऊपर है ।

देवसेना—भइया, आप निश्चिन्त रहिये ।

बंधुवर्म्मा—भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा, मैं जाता हूँ ।

(जाता है)

विजया—भयानक युद्ध समीप ही जान पडता है, क्यों राजकुमारी !

देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मैं कुछ गाऊँ ।

विजया—हँसी न करो राजकुमारी !

जयमाला—बुरा क्या है ?

विजया—युद्ध और गान !

जयमाला—युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद नहीं है ? भैरवी का ताण्डवनृत्य, महाकाली का विकट गान, शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन रहस्य का चरम सौन्दर्य्य, नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनो तो ! हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में मङ्गल का, शिव का, सत्य सुंदर संगीत होता है, उसे देखना भाग्य का खेल है।

देवसेना—लो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं।

जयमाला—तो गाओ न।

विजया—रानी ! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो, या स्त्री हो ? देवी ! ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग।

जयमाला—सुनो, देवसेना गा रही है—

(गाना)

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल-अनूप ॥
जल-थल, मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर।
खोज-खोज कर खो गई मैं, पागल प्रेम-विभोर ॥
भाँग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनों में मन में रूप ॥

धमनी की तन्त्री बजी, तू रहा लगाये कान।
बलिहारी मैं कौन तू, है मेरा जीवन प्रान॥
खेलता जैसे छाया धूप।
भरा नैनों मे मन मे रूप॥

(सहसा भीम वर्म्मा का प्रवेश)

भीम—भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला—उनका क्या समाचार है ?

भीम—अभी कुछ नहीं मिला। गिरिसंकट मे उन्होंने शत्रुओं के मार्ग को रोका था, परंतु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जाता हूँ, सावधान।

(जाता है)

(नेपथ्य में कोलाहल, भयानक शब्द)

विजया—महारानी। किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिये।

जयमाला—(छुरी निकाल कर)—रक्षा करने वाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना ?

देवसेना—भाभी। श्रेष्ठि कन्या के पास नहीं है, उन्हे भी दो।

विजया—न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक !

देवसेना—इतनी सुंदर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने के लायक़ नहीं है ?

विजया—(धड़ाके का शब्द सुन कर)—ओह ! तुम लोग बड़ी निर्दय हो !

जयमाला—जाओ, एक ओर छिप कर खड़ी हो जाओ।

(भीम का रक्त से लथपथ प्रवेश)

भीम—भाभी ! रक्षा नहीं हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ । वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा । परन्तु

जयमाला—हम लोगों की चिंता न करो । वीर ! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, गौओं की रक्षा में प्राण विसर्जन करना—क्षत्रिय का धर्म्म है । एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो । भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुँकार से शत्रु-हृदय कँपा दो । वीर ! बढ़ो ! गिरो तो मध्यान्ह के सूर्य्य के समान !—भीषण धूमकेतु-सा आगे पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे !

(भीम का प्रस्थान, द्वार का टूटना, शक हूणों के विजयी सेनापति का प्रवेश, भीम का आकर सबको रोकना, गिरते गिरते भीम का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध । सहसा स्कंदगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश ।)

"युवराज स्कंदगुप्त की जय !"

(शक और हूण स्तम्भित होते हैं)

स्कंद०—ठहरो देवियो ! स्कंद के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा । (युद्ध, तलवार चलाता है, सब पराजित और बंदी होते हैं ।)

विजया—(झाँक कर)—अहा ! कैसी भयानक और सुंदर मूर्त्ति है !

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

(मालव में शिप्रा-तट-कुंज)

देवसेना—इसी पृथ्वी पर है और अवश्य है।

विजया—कहाँ राजकुमारी ? संसार में छल, प्रवञ्चना और हत्याओं को देख कर, कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि, नरक यही मनोहर जगत है। कृतघ्नता और पाखण्ड का साम्राज्य यहीं है। छीना झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागने वाले विकट जीव—यहीं तो हैं। श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर, मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना—पवित्रता की माप है, मलिनता, सुख का आलोचक, दुःख है। पुण्य की कसौटी पाप है। विजया! आकाश के सुंदर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं, वे कुसुम-कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और हर शृंगार का सौरभ विठों बरतनेकी वस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किन्तु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्त्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया—होंगे, परन्तु मैं नहीं देख पाती।

देवसेना—तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा ?

विजया—नहीं तो—

देवसेना—समझ कर कहो ।

विजया—हाँ, समझा होगा ।

देवसेना—क्या तुम्हारा हृदय कहीं पराजित नहीं हुआ, किसी से मन को नीचा नहीं देखना पड़ा ? विजया ! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है । जहाँ हमारी सुंदर कल्पना आदर्श का नीड़ बना कर विश्राम करती है वहीं स्वर्ग है । वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है । जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है ।

विजया—तो राजकुमारी मैं कह दूँ ?

देवसेना—हाँ, हाँ, तुम्हें कहना ही होगा ।

विजया—मुझे तो आज तक किसी को देख कर हारना नहीं पड़ा । हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु, मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कह कर टाल दे सकती हूँ ।

देवसेना—नहीं विजया ! यह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता । तुम भाग्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे ।—(सामने देख कर)—अरे लो—वह युवराज आ रहे हैं । हम लोग हट चलें ।

(दोनों जाती हैं, स्कंदगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित ।)

स्कंद—विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा

देगा ? कभी नहीं। वीरो का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है। चक्रपालित! ससार में जो सबसे महान है, वह क्या है ? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। वही प्राणों का मोह त्याग करना, वीरता का रहस्य है।

चक्र०—युवराज! सपूर्ण ससार कर्मण्य वीरों की चित्र-शाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास सभवत इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है। जीवन के युद्ध में वही तो विजयी होता है, जो दिन-रात—"युद्ध्यस्व विगत ज्वर" का शखनाद सुना करता है।

स्कद०—चक्र! ऐसा जीवन तो विडम्बना है—जिसके लिये दिन-रात लडना पडे। आकाश में जब शीतल-शुभ्र-शरद-शशि का विलास हो, तब भी दाँत पर-दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए लाल आँखों से एक-दूसरे को घूरा करे! वसंत के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गर्म्म रक्त बहा कर लाल कर दिया जाय! नहीं, नहीं चक्र! मानव-जीवन का यही उद्देश मेरी समझ में नहीं है। कोई और भी निगूढ रहस्य है, चाहे उसे मै स्वय नहीं जान सका हूँ।

चक्र०—सावधान! युवराज!! प्रत्येक जीवन में, कोई बडा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं, वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगडों से अलग रखने के लिये, अपनी रक्षा के लिये, यह उसका नीच-प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के लिये आपने कब का समय निश्चित किया है?—राज-

सिंहासन कब तक सूना रहेगा ? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कंद०—तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्र०—हाँ युवराज ! मुझे यह अधिकार है।

स्कंद०—नहीं चक्र ! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन नहीं चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे

चक्र०—यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के मूल में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीडा-स्थल हो जायगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिये, अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

(स्कंद कुछ कहा चाहता है, इतने में चर का आना, कुछ संकेत करना, दोनों का प्रस्थान। देवसेना और विजया का प्रवेश—)

विजया—यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं !

देवसेना—हाँ विजया, युवराज की हार्दिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया—दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना—कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्व का परदा तो नहीं हटा रहा है ! क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?

विजया—राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्यबाणों का प्रयोग कर रही हो।

अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है। कलियों को चटका कर ताली बजा कर, झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अंतर में जीवन शक्ति वीणा बजाती है। हमने उसका संगीत सुना है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने प्रेम-तरु-तले,
बैठ छाँह लो भव-आतप से तपित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे जले।
पी लो छवि-रस माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम-तरु-तले।

(बन्धुवर्म्मा का प्रवेश)

देवसेना—अरे भइया—

बंधुवर्म्मा—देवसेना! तेरे गाने का भी विचित्र रोग है।

देवसेना—रोग तो एक-न एक सभी को लगा है। परन्तु, यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

बंधुवर्म्मा—पगली! जा देख, युवराज जा रहे हैं, पुष्पपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना—तब उन्हे जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती हैं क्या ?

वधुवर्म्मा—हाँ। उनकी विदाई करनी होगी। सभवत सिंहासन पर बैठने का, राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना—क्या आपको ठीक नहीं मालूम ?

वधुवर्म्मा—नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं। परन्तु, भौहों के नीचे एक गहरी छाया है, कुछ बात समझ में नहीं आती।

देवसेना—भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोल कर कह देने में पुरुषों की मर्य्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रंदन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से उसे टाल देते हो।—यह बड़ी प्रवञ्चना है।

वधुवर्म्मा—अच्छा जा उधर, उपदेश मत दे।

(विजया और देवसेना जाती हैं)

वधुवर्म्मा—उदार-हृदय, वीर-वत्सल, देवोपम सौंदर्य्य, इस आर्य्यावर्त्त का एक मात्र आशा-स्वरूप इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र-लिपियो से अङ्कित है। अत करण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखूँ कौन विजयी होता है। परन्तु, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, अबसे इस वीर-परोपकारी के लिये मेरा सर्वस्व अर्पण है। चलूँ—

(जाता है)

(पटाक्षेप)

(मठ में प्रपचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग)

प्रपच०—बाहर देख लो—कोई है तो नहीं।

(शर्व जाकर लौट आता है)

शर्व०—कोई नहीं, परतु, आप इतना चौंकते क्यों हैं ? मैं तो कभी यह चिंता नही करता कि, कौन आया है या आवेगा।

प्रपच०—तुम नही जानते।

शर्व०—नहीं श्रमण ! मैं खड्ग हाथ में लिये प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की, आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से ससार की सब समस्यायें हल हो जायँगी।

✓ प्रपच०—किवाडों के कान प्रत्येक भित्तियो के होते हैं, समझ लेना चाहिये, देख लेना चाहिये।

शर्व०—अच्छी बात है, कहिये।

भटार्क—तुम पहले चुप तो रहो—(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपच०—धर्म्म की रक्षा करने के लिये प्रत्येक उपायों से काम लेना होगा।

शर्व०—भिक्षु शिरोमणे ! वह कौन-सा धर्म्म है, जिसकी हत्या हो रही है ?

प्रपच०—यही हत्या रोकना, अहिंसा गौतम का धर्म्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और महानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम ऐसा

काम करेंगे, जिससे तुम चौंकोगे। परतु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क—क्या ?

प्रपच०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की सभावना है, उन्हें ससार से हटाना होगा।

शर्व०—ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और धर्म्म की रक्षा करेंगे। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क—ठहरो शर्व। परतु महास्थविर! क्या इसकी एकात आवश्यकता है ?

प्रपच०—नितात।

शर्व०—बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म्म ही न प्रचारित होगा।

प्रपच०—और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्व०—(चौंक कर)—मुझे! मैं कदापि नहीं

भटार्क—शीघ्रता न करो शर्व! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्व०—तौल-नाप मै नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो—मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ, परतु, निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं

भटार्क—मेरी आज्ञा।

शर्व०—तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार, चलो दो सहस्रों शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें, देखें मरने से कौन

भागता है। कायर! अबला महादेवी की हत्या! किस प्रलोभन में तू पिशाच बन रहा है?

भटार्क—सावधान शर्व! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं आता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्व०—नहीं भटार्क! लाभ ही के लिये मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिये पर्य्याप्त था। मुझसे यह काम नहीं होने का!

प्रपच०—ठहरो भटार्क! मुझे पूछने दो। क्यों शर्व! तुमने जो यह अस्वीकार किया है, वह क्यों? पाप समझ कर?

शर्व०—अवश्य।

प्रपच०—तुम किसी कर्म्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। ससार ही युद्धक्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण कर के जीने से क्या काम? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म्म समझते हो, परतु, दूसरे स्थल पर अधर्म्म?

शर्व०—हाँ।

प्रपच०—मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना,—दोनो स्थल में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है।—यही न?

शर्व०—हा, ऐसा ही तो।

प्रपच०—तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म्म को परखते हो, इसीसे कर्म्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्व०—दूसरा उपाय क्या ?

प्रपंच०—है क्यों नहीं। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते हैं, और यही उद्देश तुम्हारे स्थान और समय-वाली जाँच का होगा।

शर्व०—परन्तु जिसके आगामी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बलपर तुम कैसे पूर्व कार्य्य कर सकते हो ?

प्रपंच०—आशा पर, जो सृष्टि का रहस्य है। आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। (मदिरा का पात्र भरता है, स्वयं पीकर सबको पिलाता है, बार बार ऐसा करता है।)

प्रपंच०—क्यो कैसी कडवी थी ?

शर्व०—ऊँह, कलेजे तक लकीर खिंच गई !

भटार्क—परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्व०—मैं नाचूँ ?—(उठना चाहता है)

प्रपंच०—ठहरो—मेरे साथ। (उठ कर अंड-बंड गाते हुए नाचते हैं, अकस्मात् लडखडा कर प्रपंचबुद्धि गिर पडता है, चोट लगती है।)

भटार्क—अरेरे,—(सम्हल कर उठाता है)

प्रपंच०—कुछ चिन्ता नहीं।

शर्व०—बडी चोट आई।

प्रपंच०—परन्तु, परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर भारी विपत्ति आने वाली थी।

भटार्क—वह टल गई ?—(आश्चर्य्य से देखता है)

देवकी का महल, बाहरी भाग

(मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश—)

कादम्ब, कामिनी, कञ्चन, वर्णमाला के पहले अक्षर ! करना होगा, इन्हीं के लिये कर्म्म करना होगा। मनुष्यों को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म्म क्यों करें ? 'कर्म्म' में एक 'कु' और जोड़ दें, तो अच्छी वर्णमैत्री होगी।

कादम्ब ! ओह प्यास !—(प्याले से मदिरा उडेलता है)—लाल यह क्या रक्त ? आह कैसी भीषण कमनीयता है ! लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखा चाहती है। किसका ? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरेरे, नहीं, नारी दुर्बल नहीं, यह तेरी दुर्बलता है ! चल अपना काम देख, देख—सामने सोने का संसार खड़ा है !

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई।

शर्व०—उसमें मदिरा न रही होगी सुंदरी !

रामा—मदिरा का समुद्र उफन कर बह रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही लंका बसी थी।

शर्व०—तब उसमें तुम्हारी-सी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल ?

रामा—स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आँखें फाड़ कर देखते हैं—जैसे खा जायँगे ! मैं कोई हूँ, तू अपनी राह देख नीच !

शर्व०—सुंदरी ! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश-विन्यास, आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने में

एक क्रीडा, एक कौतूहल, पुकार कर-टोककर कहते हैं—"हमे देखो!" हम क्या करें, देखते ही बनता है!

रामा—दुर्वृत्त मद्यप! तू अपनी स्त्री को भी नहीं पहचानता है—परस्त्री समझ कर छेड़ कर उसे छेड़ता है।

शर्व०—(सम्हल कर)—आँय! अरे, ओह! मेरी रामा तुम हो!

रामा०—हाँ, मैं हूँ।

शर्व०—(हँस कर)—तभी तो मैं तुमको जानकर ही बोला, नहीं भला मैं किसी परस्त्री से—(जीभ निकाल कर कान पकड़ता है)

रामा—अच्छा, यह तो बताओ, कादम्ब पीना कहाँ से सीखा है? और यह क्या बकते थे?

शर्व०—अरे प्रिये! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा, सुनो—

रामा—हाँ हाँ, कहो।

शर्व०—तुमको रानी बनाऊँगा।

रामा—(चौंक कर)—क्या?

शर्व०—तुम्हें सोने से लाद दूँगा।

रामा—किस तरह?

शर्व०—वह भी बतला दूँ—तुम नित्य कहती आती हो कि "तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है"—तो मैं कुछ कर दिखाकर कुछ बना चाहता हूँ!

रामा—अरे कह भी!

शर्व०—वह पीछे बताऊँगा। आज तुम महादेवी के बंदीगृह मे न जाना, समझा न?

रामा—(उत्सुकता से)—क्यों ?

शर्व०—सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज वहाँ काण्ड होगा और तुम उसे देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ।

रामा—(डरती हुई)—क्या करोगे ? तुम पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो। तुम क्या करोगे ? बोलो।

शर्व०—(मद्यपान करता हुआ)—हत्या। थोड़ी-सी मदिरा दे, शीघ्र दे, नहीं तो छुरा भोंक दूँगा। ओह, मेरा नशा उखड़ा जा रहा है।

रामा—आज तुम्हें क्या हो गया है। मेरे स्वामी। मेरे

शर्व०—अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ। सोने से हो जाऊँगा, इसी का उद्योग कर रहा हूँ।

(इधर उधर देख कर, बगल से सुराही निकाल कर पीता है)

रामा—ओह ! मैं समझ गई। तूने बेच दिया - पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया !! अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया ! लोभ वश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्त-पिपासु ! क्रूर कर्म्मा मनुष्य ! कृतघ्नता को कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गंध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणुओं में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।

शर्व०—क्या तूँ—ओ—तूँ

रामा—हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी। मारले छुरी हत्यारे! मद्यप! तेरी रक्त पिपासा शान्त हो जाय। परन्तु, महादेवी, ओह! यदि ऐसा हुआ तो समझ लूँगी—सृष्टि में कोई प्रलय होगा।—मेघों से पानी के बदले आग बरसेगी! ईश्वर के स्थान पर पिशाचों का राज्य होगा! तब, स्मरण रख, मैं पिशाचिनी हो जाऊँगी और प्रलय को काली आँधी बनकर कुचक्रियों के जीवन की काली रात अपने शरीर में लपेट कर ताण्डवनृत्य करूँगी! मान जा, इसी में तेरा भला है।

शर्व०—अच्छा तू इसमें विघ्न डालेगी! तू तो क्या विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा। मुझे सोना और मान मिलने में कौन बाधा देगा!

रामा—मैं दूँगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती,—मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य रूप में चाहिये। (पैर पड़ती है)—स्वामी! हिंस्र पशु भी, जिनसे पाले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते, अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो।

शर्व०—(ठुकरा देता है)—जा तू—हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्यायें करनी पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ।

रामा—(प्रार्थना करती हुई)—तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य-पालन कर नहीं किया जा सकता, ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी! मान जाओ!

शर्व०—ओह, विलब होता है, तो पहले तू ही ले—

(पकडना और मारना चाहता है, रामा शीघ्रता से हाथ छुडा कर भाग जाती है ।)

(अनंतदेवी, प्रपचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—शर्व !

शर्व०—जय हो ! मै प्रस्तुत हूँ, परतु, मेरी स्त्री इसमे बाधा डालना चाहती है । मै पहले उसी को पकडना चाहता था, परतु वह भगी ।

अनतदेवी—सौगन्द है ! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा ।

प्रपच०—शर्व ! तुम तो स्त्री नहीं हो ।

शर्व०—नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूँ । परतु

भटार्क—तुम्हारी पद वृद्धि और पुरस्कार का प्रमाण पत्र यह प्रस्तुत है—(दिखाता है)—काम हो जाने पर—

शर्व०—तब शीघ्र चलिये, दुष्टा रामा भीतर पहुँच गई होगी ।

(सब जाते हैं)

देवकी का बंदीगृह

रामा—महादेवी ! मैं लज्जा के गर्त्त में डूबी जा रही हूँ। मुझे कृतघ्नता और सेवा धर्म्म धिक्कार दे रहे हैं। मेरा स्वामी

देवकी—शांत हो रामा ! बुरे दिन कहते किसे हैं ?—जब स्वामी, पुत्र, भाई, सब लोग अपने शील शिष्टाचार का पालन करें, आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठा कर देखे। इसलिये इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध-करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा—महादेवी ! परंतु आपकी क्या दशा होगी ?

देवकी—मेरी दशा, मेरी लज्जा का बोझ उसी पर है, जिसने वचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया अपना स्निग्ध अञ्चल सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिये सदैव हाथ में लिये रहता है।

रामा—परंतु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और

देवकी—न घबरा रामा ! एक पिशाच नहीं—अनन्त नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास, और उनकी ज्वाला दयामय की कृपादृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।—

पालना बनें प्रलय की लहरें।
शीतल हो ज्वाला की आँधी
करुणा के घन छहरें॥

दया दुलार करे पल भर भी
विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य यदि
सुख का केतन फहरे॥

(अनंतदेवी का सबके साथ प्रवेश)

अनंत०—परंतु व्यंग की विषज्वाला रक्त धारा से भी नहीं बुझती, देवकी! तुम मरने के लिये प्रस्तुत हो जाओ!

देवकी—क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

प्रपंचबुद्धि—हाँ। सद्धर्म्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्तल में भी नहीं बचने पावेगा, और उस महाबलिदान का आरम्भ तुम्हीं से होगा। शर्व! आगे बढो।

रामा—एक शर्व नहीं—तुम्हारे जैसे सैकड़ों पिशाच जुट कर आवें, आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा।

(छुरी निकालती है)

शर्व—मैं तेरा स्वामी हूँ, क्या तू मेरी हत्या करेगी?

रामा—ओह! बड़ी धर्म्मबुद्धि जगी है। पिशाच! और यह महादेवी तेरी कौन हैं?

शर्व०—फिर भी मैं तेरा

रामा—स्वामी? नहीं नहीं, तू मेरे स्वामी की नरक-निवासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी—शान्त हो रामा! ...

किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चलरे खून के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।

(उठती है, शर्व बढ़ता है)

अनंतदेवी—क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?

देवकी—परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी। चलरे हत्यारे!

भटार्क—भगवान का स्मरण कर लो।

देवकी—अंतिम प्रार्थना—मेरे अंतर की करुण-कामना एक थी—प्यारे 'स्कंद' को देखूँ। परंतु तुम लोगों से, हत्यारों से, मैं उसके लिये भी प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वम्भर के श्रीचरणों में है—जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रक्खेगा।

शर्व—अच्छा तो—(*खड्ग उठाता है, रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है*)—हट जा अभागिनी!

रामा—मूर्ख! अभागा कौन है?—जो संसार के सबसे पवित्र धर्म्म कृतज्ञता को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है, वह या मैं?

शर्व०—कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दो!

रामा—कुत्ते!—टुकड़े का लोभी! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा! तू कीड़ों से भी तुच्छ है। मैं पहले मरूँगी, तब महादेवी।

अनन्त०—इसी का अंत करो शर्व ! शीघ्रता करो।

शर्व०—अच्छा तो यही होगा। (प्रहार करने पर उद्यत होता है; किवाड़ तोड़ कर स्कंद भीतर घुस आता है—पीछे मुद्गल और धातुसेन। आते ही शर्वनाग की गर्दन दबा कर तलवार छीन लेता है, शर्वनाग बेहोश होकर गिरता है।)

स्कंद०—(भटार्क से)—क्योंरे नीच पशु ! तेरी क्या इच्छा है ?

भटार्क—राजकुमार ! सावधान !! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये।

स्कंद०—तू वीर है ! निस्सहाय अबला महादेवी की अर्द्ध-रात्रि में हत्या के उद्देश से घुसने वाला चोर ! तुझे भी वीरता का अभिमान है तो द्वन्द्व-युद्ध के लिये आमन्त्रित करता हूँ—बचा अपने को।

(भटार्क दो-एक हाथ चला कर घायल होकर गिरता है।)

स्कंद०—मेरी सौतेली माँ ! तुम ?

अनंत०—स्कंद ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।

(घुटनों के बल बैठती है)

स्कंद०—अनंतदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परंतु, सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है।

"अहा ! मेरी माँ !"

देवकी—(आलिंगन करके)—आओ मेरे वत्स !

(यवनिका)

(अवन्ती का दुर्ग)

बधुवर्म्मा—भीम ! वत्स !! बोलो तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीम०—तात ! आपकी इच्छा, आपका मैं अनुचर हूँ ।

जयमाला—परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी क्या मालव ही के बिना काम नहीं चलेगा ?

बधु०—देवी ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि, शकों के पतन काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्म्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परन्तु, उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी, उस समय तुम-लोगों को केवल आत्म-हत्या का ही अवलम्ब निःशेष था,—तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उनका है ।

भीम०—परन्तु क्या वे माँगते हैं ?

बधु०—नहीं भीम ! युवराज स्कंदगुप्त ऐसे क्षुद्र हृदय के नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते ।

जयमाला—परन्तु तुम्हारा मालव उन्हें प्रिय है !

बधु०—देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्य्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य्यसाम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भलीभाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की संभावना है । इसलिये, यह

मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिये, आर्य्य राष्ट्र के त्राण के लिये, युवराज उज्जयिनी में रहें, इसीमें सबका कल्याण है। आर्य्यावर्त्त का जीवन केवल स्कंदगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट होंगे—स्कंदगुप्त।

जयमाला—आर्य्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पण करते हुए, हृदय काँपता नहीं है? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए, दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा?

बंधु०—(सिर झुका कर सोचता है)—कृतघ्नता का समर्थन करेगी, वैभव और ऐश्वर्य्य के लिये ऐसा कदर्य्य प्रस्ताव करेगी, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था!

जयमाला—यदि होता?

बंधु०—तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर से नमस्कार करता, और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये! जो केवल खड्ग का अवलंब रखने वाले हैं, सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिये या अकर्म्मण्यता और शरीर-पोषण के लिये क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीम०—भइया! तब किस लिये?

बंधु०—भीम! क्षत्रियों का कर्त्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषि

कांक्षों का मुसक्या कर अवहेला करना, और—और, विपन्नों के लिये, अपने धर्म्म के लिये, देश के लिये प्राण देना।

(देवसेना का सहसा प्रवेश)

देवसेना—भाभी! जाति में व्यक्तित्व का लय, सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट स्थान को आत्म विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो कैसा उदार, कैसा महान, कैसा पवित्र! ओह!!

जयमाला—देवसेना! समष्टि में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्वप्रेम, सर्वभूत हित-कामना, परमधर्म है, परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार है?

बधु०—ठहरो जयमाला! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसीसे हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर होते जाते हैं। आत्म-समर्पण, बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीम०—भाभी! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिये—एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो। भाभी! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा आर्य्यावर्त विपन्न है, यदि हम मर मिट कर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें

जयमाला—तब मुझे क्या। जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, फिर क्या।

बधु०—तब मालवेश्वरी की जय हो। तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बंधुवर्मा तो आज से आर्य्य साम्राज्य सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हे तुम्हारा ऐश्वर्य्य सुखद हो।

(जाना चाहता है)

भीम०—ठहरो भइया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित—(प्रवेश करके)—धन्य वीर! तुमने क्षत्रियों का सिर ऊँचा किया है। तुमने महत् उद्देश के कारण साम्राज्य के प्रति अपनी स्वाधीनता बेच कर भी साम्राज्य को क्रय कर लिया। बंधुवर्मा! आज तुम महान हो, हम तुम्हारा अभिनंदन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति में, आनन्द में, हम स[illegible]नी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आर्य्यराष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बधु०—स्वागत चक्र। मालवेश्वरी की जय हो। अब हम सब सैनिक जाते हैं।

चक्र०—ठहरो बधु। एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके, परम भट्टारक मालव के लिये प्रस्थान कर चुके हैं।

बधु०—सभवत महाराजपुत्र उत्तरा पथ की सीमा की रक्षा करेंगे।

चक्र०—हाँ बधु।

देवसेना—चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

(विजया का प्रवेश)

विजया—माता ! तुम क्यों रो रही हो ?—(भटार्क की ओर देख कर) —और यह कौन है ? क्यों जी ! तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है ?

कमला—देवी ! यह मेरा पुत्र था ।

विजया— था, क्या अब नहीं ?

कमला—नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने की लालच में अपने हाथ पैर पाप-शृंखला में जकड दिये, ओह ! और फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यन्त्र के लिये ।

विजया—कौन, तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ? और तुम्हारी माता की यह हीन दशा !

कमला—ना बेटी ! इसने कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ । महाकाल के मंदिर में भिक्षा ग्रहण करके इसी उज्जयिनी में पडी रहूँगी, परंतु इससे

भटार्क—माँ ! अब और न लज्जित करो ! चलो—घर चलूँ ।

विजया—(स्वगत)—अहा ! कैसी वीरत्व व्यंजक मनोहर मूर्त्ति है ! और गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—विजया ! वत्से !! धोके में न पडो ! इस पिशाच ने छलना के लिये रूप बदला है । सम्राट का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपञ्च सोचने आया है । मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दण्डनायक को समर्पण कर देती ।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविंदगुप्त का प्रवेश)

"कौन ! भटार्क ? अरे यहाँ भी !!"

(पथ में भटार्क और उसकी माता)

कमला—तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क—माँ ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछन का मैं तिरस्कार करता हूँ, किस लिये ? केवल इसी लिये कि तू मेरी माँ है, और वह जीवित है।

कमला—और मुझे इसका दुःख है कि, मैं मर क्यों न गई। मैंने क्यों अपने कलङ्क-पूर्ण जीवन का पोषण किया ! भटार्क ! तेरी माँ के लिये एक बलवती आशा थी, और वह आशा थी कि मेरा पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलङ्क धो डालेगा, मेरा सिर ऊँचा होगा कि, मेरा पुत्र स्वदेश का अनन्य सेवक और सैनिक है। परंतु हाय !

भटार्क—माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती, क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते, क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते ?

कमला—मानते हैं, इसीसे तो और ग्लानि है।

भटार्क—घर लौट चलो माँ ! ग्लानि क्यों है ?

कमला—इसलिये कि, तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू सम्राट के कुचक्रियों में से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न !! कमला कलङ्किनी हो सकती है, परन्तु, यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त में नहीं। भटार्क ! यह मेरे पाप का फल है !—(रोती है)

(विजया का प्रवेश)

विजया—माता ! तुम क्यों रो रही हो ?—(भटार्क की ओर देख कर) – और यह कौन है ? क्यों जी ! तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है ?

कमला—देवी ! यह मेरा पुत्र था ।

विजया— था, क्या अब नहीं ?

कमला—नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने की लालच में अपने हाथ पैर पाप-शृंखला मे जकड दिये, ओह ! और फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यन्त्र के लिये ।

विजया—कौन, तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ? और तुम्हारी माता की यह हीन दशा !

कमला—ना बेटी ! उसने कुछ मत कहो, मैं स्वय इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ । महाकाल के मदिर मे भिक्षा-ग्रहण करके इसी उज्जयिनी में पडी रहूँगी, परतु इससे

भटार्क—माँ ! अब और न लज्जित करो । चलो—घर चलूँ ।

विजया—(स्वगत)—अहा ! कैसी वीरत्व व्यजक मनोहर मूर्त्ति है ! और गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—विजया ! वत्से !! धोके में न पडो । इस पिशाच ने छलना के लिये रूप बदला है । सम्राट का अभिषेक होने वाला है, यह उसी मे कोई प्रपञ्च सोचने आया है । मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मै स्वय इसे दण्डनायक को समर्पण कर देती ।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविंदगुप्त का प्रवेश)

"कौन ! भटार्क ? अरे यहाँ भी !!"

(भटार्क तलवार निकालता है, गोविन्दगुप्त उसके हाथ से तलवार छीन लेते हैं ।)

मुद्गल—महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय !

गोविन्द०—नीच ! कृतघ्न ! वीरता कोई उन्माद नहीं है, वीरता कोई आँधी नहीं है, जो अनुचित-उचित का विचार न करती हो । केवल शस्त्र बल पर टिकी हुई वीरता बिना-पैर की होती है । उसकी दृढ भित्ति है—न्याय । तू उसे कुचलने पर सिर ऊँचा उठा कर नहीं रह सकता । मातृगुप्त ! बन्दी करो इसे, यह षडयन्त्रकारी है ।

"और तुम कौन हो भद्रे ?"

कमला—मैं इस कृतघ्न की माता हूँ । अच्छा हुआ, मैं तो स्वय यही विचार करती थी ।

गोविन्द०—यह तो मैंने अपने कानों से सुना । धन्य हो देवी ! तुम्हारी-सी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य्य-राष्ट्र का नाश असम्भव है ।

"और यह युवती कौन है ?"

कमला—मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है । इसका कोई अपराध नहीं ।

मुद्गल—अरे राम ! 'क्षुर धारा विष सर्प वन्हिरित्येक्त स्त्रिय'—यह अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी !

मातृगुप्त—परतु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है ।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ, मुझे भी वदी करो ।

भटार्क—यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ, इसका कोई अपराध नहीं।

विजया—(स्वगत)—ओह! इस आनन्द-महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव में अब किस काम की हूँ! जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—वह देवसेना और कहाँ मैं! तब तो यही भटार्क, बस

गोविन्द०—भद्रे! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ।

मातृगुप्त—परंतु तुम्हारा और भी कोई परिचय है?

विजया—यही कि मैं वन्दी की अभिलाषिनी हूँ।

कमला—वत्से! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो?

विजया—मेरी इच्छा। मुझे वन्दी कीजिये। मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूँगी यहाँ मैं कुछ न कहूँगी। मेरा यहाँ अपमान किया जायगा तो आर्य्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी।

गोविंद०—क्यों भटार्क! यदि तुम्हीं कुछ साफ कहो—

भटार्क—मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिये।

मुद्गल—और वृद्धा कमला?

गोविन्द०—वह वन्दी नहीं है, परंतु एक बार स्कंद के समक्ष उसे चलना होगा।

मातृगुप्त—तो फिर सब चलें, अभिषेक का समय समीप है।

(सब जाते हैं)

(७)
राजसभा

(सिंहासन बीच में मण्डलाकार और मञ्च पर गोविन्दगुप्त बैठे हैं। बन्धुवर्म्मा, भीमवर्म्मा, मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ स्कंदगुप्त का प्रवेश—)

स्कन्द०—(बीच में खड़ा होकर)—तात! कहाँ थे ?–इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे ?

(चरण वन्दन करता है)

गोविन्द०—उठो वत्स! गुप्तकुल-तिलक! आर्य्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति! आर्य्य जाति के स्तम्भ! उसकी रक्षा करो। भाई से मैं रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं, तुम मेरी आत्मा हो वत्स! (आलिङ्गन करता है। स्कंद देवकी का चरण वन्दन करता है।)

देवकी—वत्स! चिरविजयी हो! देवता तुम्हारे रक्षक हों। महाराजपुत्र! इसे आशीर्वाद दीजिये कि, गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह सदैव विनयशील रहे।

गोविन्द०—महादेवी! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न, यह गुप्तकुल के अभिमान का चिन्ह, सदैव यशोभि-मण्डित रहे!

स्कन्द०—(बन्धुवर्म्मा से)—मित्र मालवेश! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो! हम लोग तुम्हारा अभिनंदन करें।

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश)

जयमाला—देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं। सम्राट आर्य्यावर्त्त के सम्राट के अतिरिक्त, दूसरा मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

("मालव की जय हो !"—तुमुल ध्वनि)

बन्धुवर्म्मा—(हँस कर)—सम्राट ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिये अब सिंहासन ग्रहण करने में विलम्ब न कीजिये ।

गोविन्द०—वत्स ! इन आर्य्य जाति के रत्नों की कौन सी प्रशंसा करूं ! इनका स्वार्थ त्याग दधीचि के दान से कम नहीं ! बढ़ो वत्स ! सिंहासन पर बैठो, हम तुम्हारा तिलक करें ।

स्कंद०—तात ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं, अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है, इस समय में केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट नहीं ।

गोविन्दगुप्त—आज आर्य्य जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है, सैनिक छोड़ कर और कुछ नहीं । देखिये, आर्य्य कन्यायें धर्षित की जाती हैं, हूणों के विकट ताण्डव से पवित्र भूमि पादाक्रांत है । कहीं 'वषट्कार स्वाहा' के द्वारा देवता की पूजा नहीं होती । गौ, ब्राह्मण, शृगाल और दास्यों के समान हत्यारों के डर से छिपे हैं । सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचण्ड पाखण्ड फैला है ।—इसी समय जाति तुम्हें पुकारती है !—सम्राट होने के लिये नहीं, उद्धार युद्ध में सेनानी बनने के लिये ! सम्राट !

(गोविन्दगुप्त और बन्धुवर्मा हाथ पकड़ कर स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं । भीम छत्र लेकर बैठता है, देवसेना चमर करती है, गरुड़ध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते हैं, देवकी राजतिलक करती है, गोविंदगुप्त तलवार का उपहार देते हैं, चक्र गरुड़ाङ्क राजदण्ड देते हैं।)

बधुवर्म्मा—परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त की जय हो !

सब—(समवेत स्वर से)—जय हो !

बन्धु०—आर्य साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो !—(सब वैसा ही कहते हैं)

"महासन्धि विग्रहिक कुमारामात्य बन्धुवर्मा की जय हो !"

सब—जय हो !

'महाप्रतिहार कुमारामात्य मातृगुप्त की जय हो !'

'महादण्डनायक कुमारामात्य चक्रपालित की जय हो !

स्कंद०—आर्य्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्य्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ,—आप लोग इसके लिये भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश सेवा से, कभी विचलित न हो !

गोविन्द०—सम्राट ! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आपका उद्देश सफल हो । आज गोविन्द ने अपना कर्तव्यपालन किया ! भगवान—(गद्गद कंठ से)—तुम्हारी जय हो ! वत्स बधुवर्म्मा ! तुम इस नवीन आर्य्यराष्ट्र के संस्थापक हो । तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरव-गाथा आर्य्य जाति का मुख उज्वल करेगी ! वीर ! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो ।

बधु०—अभी नहीं आर्य्य ! आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा । मालव का राज-

कुटुम्ब, एक एक बच्चा, आर्य्य जाति के कल्याण के लिये जीवन उत्सर्ग करने के लिये प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा दें, वही होगा।

"धन्य ! धन्य !"

स्कद०—तात ! पर्णदत्त इस समय नहीं हैं !

चक्र०—सम्राट ! वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

(कुमारदास का प्रवेश)

मातृगुप्त—सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो !

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

स्कद०—कुमारदास, सिंहल के युवराज ?

मातृगुप्त—हाँ महाराजाधिराज !

स्कद०—अद्भुत वीर युवराज ! तुम्हारा स्नेह कभी भूल सकता हूँ। आओ स्वागत !

(सब मंच पर बैठते हैं)

गोविन्द०—बन्दियों को ले आओ।

(सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा प्रपञ्च का प्रवेश)

स्कद०—क्यों शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्व०—सम्राट ! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, ऐसे नीच के लिये और कोई दण्ड नहीं है।

स्कद०—नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दण्ड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।—(सब भयभीत होते हैं)

शर्व०—वही हो सम्राट ! जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कंद०—परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—साध्वी रामा—को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। रामा सती! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा!

(रामा सम्राट का पैर पकड़ती है)

रामा—सम्राट! दयामय! आप धन्य हैं।

शर्व०—दुहाई सम्राट की! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, नहीं तो आत्म-हत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था—ओह!—(छुरी निकालना चाहता है)

स्कंद०—ठहरो शर्व! मैं तुम्हें आजीवन बंदी बनाऊँगा।

(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है)

स्कंद०—शर्व! यहाँ आओ।

(शर्व आता है)

देवकी—वत्स! इसे किसी विषय का शासक बना कर भेजो, जिसमें दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

सब—महादेवी की जय हो! मूर्त्तिमती करुणा की जय हो!

स्कंद०—शर्व! तुम आज से अन्तर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो—(खड्ग देता है)

शर्व०—(रुद्धकंठ से)—सम्राट! देवोपम वीर! आपकी जय हो!—(देवकी के पैर पर गिर कर)—माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब सम्राट की दया से मैं मनुष्य

हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री! कि मैं देव-चरणों में आत्मवलि देकर इसी शरीर से देवता हो जाऊँ।

देवकी—उठो वत्स! क्षमा मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती, प्रतिहिंसा पाशव-धर्म्म है, उठो, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ।

(शव खड़ा होता है)

स्कंद०—भटार्क! तुम इस गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो!—यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है!

भटार्क०—मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी—क्यों भटार्क! तुम यह उत्तर सच्चे हृदय से देते हो? क्या ऐसा कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए, औरों को भी प्रवचित नहीं कर रहे हो?

भटार्क—(हाथ जोड़ कर)—"अपराध हुआ"—(कह कर सिर नीचा करता है)

स्कन्द०—तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है! तुम इतने नीच हो!! (भटार्क स्तब्ध रहता है। विजया की ओर देखकर)—और तुम विजया? तुम क्यों इस षड्यन्त्र में!

देवसेना—सम्राट! विजया मेरी सखी है!

विजया—परंतु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला—विजया!

विजया—कर चुकी देवी।

देवसेना—उसके लिये दूसरा उपाय नहीं था राजाधिराज! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है! परंतु, विजया तू ने शीघ्रता की।

(स्कंद विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है)

गोविन्द०—यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है। भटार्क के नीच कर्म्मों से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है। इसके हृदय का गौरव हम जानते हैं।

स्कंद०—परंतु विजया! तुमने यह क्या किया?

देवसेना—(स्वगत)—ओह! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई!

देवकी—वत्स! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे, आज मैं सबके लिये क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

कुमारदास—भारत-रमणी! आर्य्यनारी सती! तुम धन्य हो! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।

स्कंद०—जैसी माता की इच्छा—

मातृगुप्त—जयति सुत बलाढ्यो गुप्त (इत्यादि पढ़ता है)

(यवनिका)

तृतीय अंक

शिप्रातट

प्रपञ्चबुद्धि—सब विफल हुआ ! इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भाण्डार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनन्तदेवी, अपनी विडम्बना के दिन बिता रहे हैं। भटार्क भी बन्दी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूरकर्म्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म्म के उठाने की आकांक्षा थी, परन्तु गया, वह दूर गया ! सुना है कि, उग्रतारा की साधना से विकट से भी-विकट कार्य्य सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल के महास्मशान से बढकर कौन उपयुक्त स्थान होगा ! चलूँ—

(जाना चाहता है, भटार्क का प्रवेश—)

भटार्क—आर्य्य ! भिक्षु शिरोमणे ! प्रणाम !

प्रपञ्च०—कौन भटार्क ? अरे मैं स्वप्न देख रहा हूँ !

भटार्क—नहीं आर्य्य मैं जीवित हूँ।

प्रपञ्च०—उसने तुम्हें शूली पर नहीं चढाया ?

भटार्क—नहीं उससे भी बढ कर !

प्रपञ्च०—क्या ?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंच०—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—आर्य्य! मैं इतना नीच नहीं हूँ।

प्रपंच०—परंतु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ—तुम इतने उच्च भी नहीं हो! चलो एकांत में बात करें। कोई आता है।

(दोनों जाते हैं)

(विजया का प्रवेश—)

विजया—मैं कहाँ जाऊँ! उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूँगी? उसे अपने बाहु-पाश में जकड़ सकती हूँ? हृदय के विकल मनोरथ! आह!

(गान)

उमड़ कर चली भिगोने आज
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर
नयन जल धारा रे प्रतिकूल!
देख ले तू फिर कर इस ओर।

हृदय की अन्तरतम मुसक्यान
कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन
निरखते इन आँखों की कोर।

यह कौन? ओ! राजकुमारी!

(देवसेना का प्रवेश—)

देवसेना—विजया! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रातट पर तुम भी आ गई हो!

विजया—हाँ राजकुमारी !–(सिर झुका लेती है)

देवसेना—विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था।

विजया—पूछना क्या है ?

देवसेना—क्या जो तुमने किया है, उसे सोच-समझ कर ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम्हें केवल तुम्हारे दम्भ ने धोखा दे दिया हो ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं, बना दिया ?

विजया—राजकुमारी ! मैं अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नहीं भूल सकती जो आपने दिखाई है। परन्तु, अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना—(आश्चर्य से)–क्यों विजया ! मेरे सखी-जनोचित सरल प्रश्न में भी तुम्हें व्यङ्ग सुनाई पड़ता है !

विजया—क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है ? राजकुमारी ! आज से मुझे देखना मत। मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और तुम

देवसेना—ठहरो, दम ले लो ! सन्देह के गर्त में गिरने के पहले विवेक का अवलम्ब ले लो विजया !

विजया—"हताश जीवन कितना भयानक होता है !"—यह नहीं जानती हो ? उस दिन जिस तीखी छुरी के रखने के लिये मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रखना मेरे लिये आवश्यक था ! राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। आज से मैं तुम्हारी शत्रु हूँ।

देवसेना —(आश्चर्य से)-क्या कह रही हो ?

विजया—वही—जिसे तुम सुन रही हो !

देवसेना—वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था ! अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी ! विजया ! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी ? मैं जानती थी कि, तुम आसक्त हो, और तुम्हारी आन्तरिक कामना उसी व्यक्ति के लिये लालायित है, परन्तु मैंने तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोडे न बिछाये।

विजया—परतु, उपकारों के ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया !

देवसेना—शीघ्रता करने वाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती है । अच्छा, इससे क्या ? जा तू अपनी राह देख !

(जाती है)

विजया—जाती हूँ, परन्तु सावधान !

(भटार्क और प्रपचबुद्धि का प्रवेश—)

भटार्क—विजया ! तुम कब आई हो ?

विजया—अभी अभी, तुम्हीं को तो खोज रही थी।—(प्रपचबुद्धि को देखकर)—आप कौन हैं ?

भटार्क—'योगाचार संघ' के प्रधान श्रमण—आर्य्य प्रपचबुद्धि।

(विजया नमस्कार करती है)

प्रपच०—कल्याण हो देवी ! भटार्क से तो तुम परिचित सी हो, परन्तु, मुझे भी जान जाओगी।

विजया—आर्य्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है ।

प्रपंच०—शुभे ! प्रज्ञा पारमिता स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे ! क्या तुम सद्धर्म्म की सेवा के लिये कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ? (कुछ सोच कर)—परंतु शीघ्रता करना । तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलम्ब है । इसीलिये, तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा ।

विजया—परंतु आर्य्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है ।

प्रपंच—क्या ?

विजया—राजकुमारी देवसेना का अन्त !

प्रपंच०—और मुझे उग्रतारा की साधना के लिये, महा-स्मशान में एक राजबलि चाहिये ।

भटार्क—यह तो अच्छा सुयोग है !

विजया—उसे स्मशान तक ले आना तो मेरा काम है, आगे मैं कुछ न कर सकूँगी ।

प्रपंच०—सब हो जायगा । उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसम्पन्न होगा ।

भटार्क—परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कंद-गुप्त से मैं किस मुँह से ... नहीं, नहीं

प्रपंच०—सावधान भटार्क ! अलग ले जाकर इतना सम-झाया, फिर भी ! तुम पहले अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो ।

भटार्क—ओह ! पाप-पङ्क में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं ! कुकर्म उसे जकड़कर नागपाश में बाँधे रहते हैं । दुर्भाग्य !

मातृगुप्त—(निकल कर)—कुचक्र ! भयानक षड्यन्त्र !! एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिये, इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की ! मनुष्य ! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को ! तब भी तेरे पास उनसे कुछ विशेष साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता, और पैने अस्त्र । इनसे भी बढ़ कर प्राण लेने की कला-कुशलता । देखा जायगा, गुप्त-साम्राज्य का महाप्रतिहार—तुम्हारे लिये चर बना है, भटार्क ! तुम जाते कहाँ हो !

(जाता है)

(श्मशान में साधक रूप से प्रपञ्चबुद्धि। दूर से स्कंदगुप्त टहलता हुआ आता है—)

स्कंद०—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिये? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति!—केवल मेरे होने से? मालूम होता है कि सबकी—विश्व-भर की—शान्ति रजनी में हमीं धूमकेतु हैं, यदि हम न होते तब यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता। ~~केवल हमने कितने ही मनुष्यों को स्वार्थ साधन से संचित रक्खा है, इसीलिये, हम सबकी आँखों की किरकिरी हैं~~। परन्तु, मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं! बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य पूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अंत:करण को आलिङ्गन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त दाह करना चाहता है! विजया! तूने क्या किया!—(देखकर)—ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्तिमान पिशाच है! अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखें।

(छिपता है)

(विजया के साथ देवसेना का प्रवेश—)

देवसेना—तुम किस अभिप्राय से आई हो?

विजया—और तुम राजकुमारी ? क्या तुम इस महा वीभत्स स्मशान मे आने से नहीं डरती हो ?

देवसेना—संसार का मूक शिक्षक स्मशान क्या डरने की वस्तु है ? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है ?

सब जीवन बीता जाता है
धूप-छाँह के खेल-सदृश । सब०

समय भागता प्रतिक्षण में,
नव अतीत के तुषार कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है ?—सब०

बुल्ले, लहर, हवा की झोंकें,
मेघ और बिजली की टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके,
जीवन का वह नाता है ।—सब०

बंशी को बस बज जाने दो,
मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बन्द करके गाने दो,
जो कुछ हमको आता है ।—सब०

विजया—(स्वगत) भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी आह ! कैसा भोला मुखड़ा है ! नहीं, नहीं, विजया ! सावधान ! प्रतिहिंसा (प्रकट)—राजकुमारी ! देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी ?

देवसेना—चलो परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन ? जब मेरी कामनायें-विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब वह चाहे स्वय ईश्वर ही हो तो क्या ? तब भी एक कुतूहल है, चलो—

(विजया देवसेना को आगे कर प्रपचबुद्धि के पास ले जाती है, और आप हट जाती है। ध्यान से आँख खोलकर प्रपच उसे देखता है—)

प्रपच०—तुम्हारा नाम देवसेना है ?

देवसेना—(आश्चर्य से)—हाँ भगवन् !

प्रपच०—तुमको देवसेवा के लिये शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाट-लिपि कह रही है कि, तुम बड़ी भाग्यवान हो।

देवसेना—कौनसी देव-सेवा ?

प्रपच०—यह नश्वर शरीर जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका, और न करने की आशा है, देव-सेवा में अर्पण करो। उग्रतारा तुम्हारा परम मङ्गल करेगी।

देवसेना—(सिहिर उठती है)—क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी ?—(घूमकर देखती है)—विजया ! विजया !!

प्रपच०—डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिये था। नित्य की मोह-ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि, तुम एक साधक का उपकार करती हुई, अपनी ज्वाला शात कर दो !

देवसेना—परन्तु कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है, वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता

प्रपंच०—(उठकर उसका हाथ पकड़ कर खड्ग उठाता है)—परन्तु मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो।

देवसेना—प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो।

(सिर झुकाती है)

(प्रपंच का हाथ पीछे से आकर मातृगुप्त पकड़ता है, देवसेना चकित होकर स्कंद को आलिङ्गन करती है।)

(यवनिका)

Rcorx

उपवन

(जयमाला और देवसेना)

जयमाला—तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है, तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।

१—सखी—सम्राट युद्ध-यात्रा में गये हैं और

२—सखी—तो क्या ?

देवसेना—तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी! गाऊँ वह गीत ?

जयमाला—मेरी प्यारी! तू गाती है। अहा! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही हैं। तू दुखी होती है, ले मैं जाती हूँ। अरी! तुम सब इसे हँसाना।—(जाती है)

देवसेना—क्या महारथी हार कर भगे ? अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है ? अच्छा तो आओ।

१—सखी—नहीं, राजकुमारी! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

२—सखी—हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है।

३—सखी—तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी हुई है ?

देवसेना—प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों ? कहूँ ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का व्याह किया जा रहा है, इसीसे न कहूँगी।

१—सखी—न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है—और क्या।

देवसेना—तेरा मुँह काला और क्या? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती?

(मुँह फेर लेती है)

२—सखी—लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ।

देवसेना—क्यों घाव पर निमक छिड़कती है! मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके, उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख सुन्दर होता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।

(आँखों से आँसू बहता है)

१—सखी—हैं हैं, क्या तुम रोती हो? मेरा अपराध क्षमा करो।

देवसेना—(सिसकती हुई)—नहीं प्यारी सखी! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी-खोल कर रोती हूँ, बस फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

२—सखी—तुम्हें इतना दुःख है!—मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—(सम्हल कर)—यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है, मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ

सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी इसी झगडालू कुटुम्ब में मैं गृहस्थी सम्हाल कर, स्वस्थ होकर बैठती हूँ।

२—सखी—आश्चर्य्य! राजकुमारी! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है।

देवसेना—कूलों में उफन कर बहने वाली नदी! तुमुल तरङ्ग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा!—परन्तु उसमें भी नाव चलानी होगी।

१—सखी—

(गान)

माझी! साहस है खे लोगे?
जर्जर-तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खोलोगे?
अलस नील की छाया में,—
जलजालों की छल माया में,—
अपना बल तोलोगे?
अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं,
ये झिटके झेलोगे? मा०

(भीमवर्म्मा का प्रवेश)

भीम०—बहिन! शक-मण्डल से विजय का समाचार आया है।

देवसेना—भगवान की दया है।

भीम०—परन्तु, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा ।

देवसेना—धन्य हैं देवपुरुष !!

भीम०—वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्म्मा गुप्तसाम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिये अभी वे स्कधावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नहीं हो सकता। और भी सुनो देवसेना ?

देवसेना—क्या ?

भीम०—सम्राट ने तुम्हारे बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गान्धारवंशी राजा अब वहाँ नहीं है, काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है।

देवसेना—सम्राट की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य!

भीम०—आर्य्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन! सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छ राज ध्वस हो गया है। प्रवीर सम्राट स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठा कर नहीं देखता। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिये जीवित हैं!

देवसेना—मङ्गलमय भगवान सब मङ्गल करेंगे। भाई! साहस चाहिये, कोई वस्तु असम्भव नहीं।

भीम०—उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है, जाता हूँ।

देवसेना—भाई! तुम अपने शरीर के लिये बड़े ही निश्चिन्त रहते हो। और कामों के लिये तो।

(भीम हँसता हुआ जाता है)

(मुद्गल का प्रवेश—)

मुद्गल—जो है सो काणाम करके यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटी ढोल की तरह मेरे गले पड़ी।

देवसेना—क्या है मुद्गल?

मुद्गल—वही-वही, सीता की सखी, मन्दोदरी की नानी त्रिजटा। कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम! अपने को कवि भी लगाता था! मेरी कुण्डली मिलाई कि मुझे मिट्टी में मिलाया! शाप दूँगा शाप! एक दाँत पीस कर, हाथ उठा कर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा! मुझे इस झंझट में फँसाया! उसने क्यों ब्याह कराया ?

देवसेना—तो क्या बुरा किया?

मुद्गल—झखमारा, जो है सो काणाम करके।

देवसेना—अरे ब्याह भी तुम्हारा होता?

मुद्गल—न होता तो क्या इससे भी बुरे रहते! बाबा, अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परन्तु, यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा!

(सब हँसती हैं)

देवसेना—आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी। क्योंकि ठीक मध्यान्ह में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है। पेट पचकने लगता है।

देवसेना—अच्छा आज तुम्हारा निमन्त्रण है, तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल—जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो। फिर शीघ्रता होनी चाहिये। पुण्यकाल बीत न जाय चलिये। मैं उसे बुला लेता हूँ।—(जाता है)

(सब का प्रस्थान)

(मगध में अनन्त देवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क)

पुरगुप्त—विजय-पर-विजय ! देखता हूँ कि एक बार वक्षुतट पर गुप्तसाम्राज्य की पताका फिर फहरायगी ! गरुड़ध्वज वक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण प्रभा का विस्तार करेगा !

अनन्त०—परन्तु तुम्हारा क्या ? निर्वीर्य्य, निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा के गर्त्त में डूब ही जाते ! और भी छाती फुला कर इसका आनन्द मनाते हो !

विजया—अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती !

भटार्क—यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा !

(दौवारिक का प्रवेश—)

दौवारिक—जय हो ! एक चर आया है ।

भटार्क—ले आओ ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है—)

चर—युवराज की जय हो !

भटार्क—तुम कहाँ से आये हो ?

चर—नगरहार के हूण-स्कधावार से ।

भटार्क—क्या सन्देश है ?

चर—सेनापति खिङ्गिल ने पूछा है कि मगध की गुप्त परिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है । परन्तु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा, स्कदगुप्त का साम्राज्य ध्वस पीछे होगा । पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न भाण्डार लूटा जायगा । प्रति-

स्थान और चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को जो धन विद्रोह करने के लिये परिषद की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अन्तर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्‌घाटन करके वह धन भी आत्मसात कर लिया और सहायता के बदले धोका मिला, जिससे हूणों को सिन्धु का भी तट छोड़ देना पड़ा ।

भटार्क—ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया। आचार्य्य प्रपचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है ! दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट बनाने में तुम्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी ।

चर—परन्तु महाबलाधिकृत ! उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क—मैं प्रमाणपत्र दूँगा। हूणों को एकबारगी ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिये स्कंदगुप्त ने समस्त सामन्तों को आमन्त्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी, और मैं ही उसका परिचालन करूँगा । वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा । और यह लो प्रमाण पत्र—(पत्र देता है)

पुरगुप्त—ठहरो ।

अनंत—चुप रहो ।

दूत—तो यह उपहार भी सम्राज्ञी के लिये प्रस्तुत है ।

(रत्नों से भरी हुई मञ्जूषा देता है)

भटार्क—और उत्तरापथ के समस्त धर्म्मसंघों के लिये क्या किया है ?

दूत—आर्य्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ। समस्त

सद्धर्म्म के अनुयायी और संघ, स्कंदगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्म्मनाश के भय से घबरा उठा है। सब विद्रोह करने के लिये उत्सुक हैं।

भटार्क—अच्छा जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निपटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहे। शीघ्र वहीं मिलूँगा।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त—यह क्या हो रहा है?

अनन्त०—तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है।

(सैनिक का प्रवेश-)

सैनिक—महादेवी की जय हो!

भटार्क—क्या है?

सैनिक—सेना जालन्धर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य स्कंधावार से शीघ्रही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त—विजया! बहुत विलम्ब हुआ। एक पात्र

(अनन्तदेवी संकेत करती है, विजया उसे पिलाती है)

भटार्क—मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न? मैं उसके पहले पहुँचूँगा।

सैनिक—परन्तु महाबलाधिकृत!

भटार्क—क्या? कहो!

सैनिक—यह राष्ट्र का आपत्ति-काल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केंद्र बन रही है! यहाँ के

मनुष्यों के लिये विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी, अपर्याप्त हैं। नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता-राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है। भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे ?—वह भयानक युद्ध !

भटार्क—अबोध ! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ! जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जागृत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीरों के एक कान तलवारों की झनकार सुनते हैं, और दूसरे से नूपुर की झनकार !

विजया—बात तो यही है।

सैनिक—आप महाबलाधिकृत हैं, इसलिये मैं कुछ नहीं कहूँगा।

भटार्क—नहीं तो ?

सैनिक—यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही कहता कि तुम देश के शत्रु हो।

भटार्क—(क्रोध से)—हैं।

सैनिक—हाँ, यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्यजाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़ कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद। जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है। आह ! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी, आर्य्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमन्त्रण पाने पर साम्राज्य

सेना में जाय। महाबलाधिकृत! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्म-हत्या कर लूँ! मैं उस सेना का नायक हूँ, जिसपर गरुडध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठित उस सेना का ऐसा अपमान!

भटार्क—(अपने क्रोध के मनोभाव दबा कर)—अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक—हूँ, अच्छा तो यह खड्ग लीजिये, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं।—(खड्ग देता है)

पुरगुप्त—(मद्यप की-सी चेष्टा बना कर)—यह अच्छा किया, आओ मित्र! हम तुम कादम्ब पियें। जाने दो इन्हें। इन्हें लड़ने दो।

अनन्तदेवी—(भटार्क को सचेत करती हुई ले जाती है, और विजया से कहती है)—विजया! युवराज का मन बहलाओ!

(सैनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनन्तदेवी एक ओर, विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं।)

(पट-परिवर्त्तन)

गान्धार की घाटी—रणक्षेत्र

(तुरही बजती है, स्कंदगुप्त और बधुवर्म्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश–)

बधु०—वीरो! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर गाथा की कविता सुरसुन्दरियों की वीणा के साथ मन्द ध्वनि से नदन में गूँज उठेगी! असम साहसी आर्य्य-सैनिक! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है–रण-विद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूप साम्राज्य पादाक्रांत है, उन्हे तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं! समझ लो–आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है! जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय!

सैनिक—आर्य्य सैनिकों का अपमान करने का अधिकार महा-बलाधिकृत को नहीं है! हम सब प्राण देने आये हैं, खेलने नहीं!

स्कद०—धन्य! तुम यथार्थ ही जननी जन्म-भूमि की सतान हो। इच्छा होती है कि राजमुकुट एक ओर रख कर, तुम्हारे सदृश साधारण सैनिकों-सी सेवा मातृभूमि की करूँ।

सैनिक—राजाधिराज श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(चर का प्रवेश–)

चर—परम भट्टारक की जय हो।

स्कद०—क्या समाचार है?

चर—देव! हूण शीघ्र ही खरस्रोता के पार होकर आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परंतु यदि आक्रमण न हुआ तो स्वयं आक्रमण करेंगे।

बधु०—और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है?

पर—भयानक षडयन्त्र ! मगध की सेना पर विश्वास करने के लिये मैं न कहूँगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मन्त्रणा चल रही है ! खिङ्गिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड सकेंगे कि नहीं, इसमें सन्देह है ।

स्कंद०—बधुवर्म्मा ! तुम कुभा के रणक्षेत्र की ओर जाओ— मैं यहाँ देख लूँगा ।

बधु०—राजाधिराज ! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है। आज खरस्रोता की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है ! आज मालव का एक भी सैनिक नासीर सेना से न हटेगा ।

स्कंद०—बधु ! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बधु०—परन्तु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मर कर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बधुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षडयन्त्र तोडने में नहीं। आपके रहने से सौ बधुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिये ।

स्कंद०—बधुवर्म्मा ! तुम बड़े कठोर हो !

बधु०—शीघ्रता कीजिये। यहाँ हूणों का रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोडूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिये। उसे क्यों बुलाया ?

स्कंद०—हमने समझा कि हूणोंके सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

वधु०—ओह! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठा कर न देखेगा। सम्राट! शीघ्रता कीजिये।

स्कंद०—(आलिङ्गन करता है)—"मालवेश की जय!"

वधु०—राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(स्कंदगुप्त चर के साथ जाते हैं)

(नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बधुवर्म्मा की अंतिम अवस्था, गरुडध्वज टेककर उसे चूमना।)

वधु०—(दम तोड़ते हुए)—विजय! तुम्हारी .विजय! आर्य्य-साम्राज्य की जय!

सब—आर्य्य साम्राज्य की जय!

वधु०—भाई! स्कंदगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण हैं!

सैनिक—महाराज! आप क्या कहते हैं!—(सब रोते हैं)

वधु०—बधुगण! यह रोने का समय नहीं, आनंद का है! कौन वीर इसी तरह जन्म-भूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हू!

एक सैनिक—बोलो—राजाधिराज वधुवर्म्मा की जय!

(सब वैसा ही कहते हैं। वधुवर्म्मा दम तोड़ता है।)

परिवर्त्तित दृश्य

(कुभा का रणक्षेत्र, चक्रपालित और स्कंदगुप्त)

चक्र०—सम्राट ! प्रतारणा की पराकाष्ठा, दो दिन से जान बूझ कर, शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है ! आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ। समस्त मगध की सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कंद०—चक्र ! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना होगा। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं, परन्तु, उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा !

चक्र०—नहीं सम्राट ! उसे बंदी कीजिये। वह देखिये—आ रहा है।

भटार्क—(प्रवेश कर के)—राजाधिराज की जय हो !

स्कंद०—क्यों सेनापति ! यह क्या हो रहा है ?

भटार्क—आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट !

स्कंद०—या समय की ?

भटार्क०—सम्राट का मुझ पर विश्वास नहीं है, यह

चक्र०—विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता !

भटार्क—तुम अभी बालक हो।

चक्र०—दुराचारी कृतघ्न ! अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता, तेरा कूटचक्र !

भटार्क—मावधान ! अब मैं सहन नहीं कर सकता !

(तलवार पर हाथ रखता है)

स्कंद०—भटार्क ! सावधान ! वह बालक है। कूटमत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता । चुप रहो चक्र !

(चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं)

स्कंद०—भटार्क ! प्रवञ्चना का समय नहीं है। स्मरण रखना—कृतघ्न और नीचों की श्रेणी में तुम्हारा नाम पहिले रहेगा !

(भटार्क चुप रह जाता है)

स्कद०—युद्ध के लिये प्रस्तुत हो ?

भटार्क—मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा ।

स्कद०—अच्छा तो नासीर सेना लेकर तुम गिरिसकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से कुभा पार करके मैं आता हू । चक्र ! तुम दुर्ग की रक्षा करो ।

भटार्क—जैसी आज्ञा । नगरहार के स्कधावार को भी सहायता के लिये कहला दिया जाय तो अच्छा हो ।

स्कद०—चर गया है । तुम शीघ्र जाओ। देखो—सामने शत्रु दीख पडते हैं, शीघ्र सेना ले आओ ।

(भटार्क का प्रस्थान)

चक्र०—तो मैं बैठा रहू ?

स्कद०—भविष्य अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से सहायता समय पर नहीं पहुँचती दिखाई देती है, परन्तु विपरीत— हाल देखना तो शीघ्र नगरहार की ओर भ । वहीं तुमसे मिलूगा

(चर का प्रवेश)

स्कंद०—गान्धार-युद्ध का क्या समाचार है ?

चर—विजय। उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये। परंतु, सम्राट ! बंधुवर्म्मा नहीं हैं।

स्कंद०—आह ! बंधु ! तुम चले गये ? धन्य हो वीर हृदय !

(शोक मुद्रा से बैठ जाता है)

चक्र०—इसका समय नहीं है सम्राट ! उठिये, सेना आ रही है। इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कंद०—(उठते हुए)—ठीक कहा।

(भटार्क के साथ सेना का प्रवेश)

स्कंद०—देखो, कुभा के उस बंध से सावधान रहना। आक्रमण में यदि असफलता हो, और शत्रु कुभा को पार करना चाहे, तो उसे काट देना। देखो भटार्क ! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क—जैसी आपकी आज्ञा।

(कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कंद०—चक्र ! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना। हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे। तुम सावधान !

(नेपथ्य से रणनाद)

देखो—वह हूण आ रहे हैं। उन्हें वहीं रोकना होगा। तुम दुर्ग में जाओ।

चक्र०—जैसी आज्ञा।—(जाता है)

स्कंद०—वीर मगध-सैनिको! आज स्कंदगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुड़ध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जाँय!

मगध-सेना—राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय! (सेना बढ़ती है, ऊपर से अस्त्र वर्षा होती है, घोर-युद्ध के बाद हूण भागते हैं। साम्राज्य सेना का, जयनाद करते हुए, शिखर पर अधिकार करना।)

नायक—(ऊपर देखता हुआ)—सम्राट! आश्चर्य्य है, भागी हुई हूण सेना कुभा के उस पार उतर रही है!

स्कंद—क्या कहा!

नायक—कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परन्तु, वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है! आश्चर्य!

स्कंद०—विश्वासघात! प्रतारणा!! नीच भटार्क!

नायक—फिर क्या आज्ञा है?

स्कंद०—दुर्ग की रक्षा होनी चाहिये। कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बता कर ले गया है। वीरो! शीघ्र प्रत्यावर्त्तन करना होगा!

(नायक तुरही बजाता है, सैनिक इकट्ठे होते हैं)

स्कंद०—(घबराहट से देखते हुए)—शीघ्रता करो!

नायक—क्या?

स्कंद०—नीच भटार्क ने बंध तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है! चलो शीघ्र—

(सब उतरना चाहते हैं, कुभा के जलप्रणाली में अकस्मात जल भर जाता है, सब बहते हुए दिखाई देते हैं।)

(अंधकार)

चतुर्थ अंक

प्रकोष्ठ

(विजया और अनन्तदेवी)

अनन्त०—क्या कहा ?

विजया—मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ। जो भूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झिटके में पृथ्वी चूमने के लिये विवश कर सकती हूँ।

अनन्त०—क्यों ?—इतनी उद्विग्नता क्यों है ? सुनूँ भी।

विजया०—समझ जाओ।

अनन्त०—नहीं, स्पष्ट कहो।

विजया—भटार्क मेरा है !

अनन्त—तो ?

विजया—उस राह से दूसरों को हटना होगा।

अनन्त०—कौन छीन रहा है ?

विजया—एक पाप-पङ्क में फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या नाम भी बताना होगा ? स्मरण रखना, सब कूटचक्र तोड़ दिये जायँगे। साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा।

अनन्त०—(हँसती हुई)—मूर्ख रमणी। तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है, वह कुचलने के लिये है, समझी ?

विजया—समझो, और तुम भी समझो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनंत०—(बनाती हुई)—क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो? क्यों—वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है!

विजया—हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परंतु, वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है। तुम इस फूले-फले आर्य्य-साम्राज्य के कानन में चिनगारी हो! तुमसे उत्पन्न हुई सन्तान—छी!

अनंत—क्या कहा? समझ कर कहना!

विजया—कहती हूँ, और फिर भी कहूँगी। तुम भटार्क से मुझे नहीं हटा सकती हो। प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझे नहीं वञ्चित कर सकता है (प्रणय-वञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिये वज्र से भी दृढ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स, और प्रलय की अनल शिखा से भी लहरदार होती हैं) मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिये। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन, और यौवन में ही जीर्ण-शरीर, का अवलम्ब वाञ्छनीय नहीं। कहे देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणाओं को एक फूँक में उड़ा दूँगी!

अनंत०—क्या इतना साहस! तुच्छ स्त्री! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगन्धित करने के लिए गंधचूर्ण जलवाती थी। जिसके एक तीखी कोर से गुप्तसाम्राज्य डाँवाडोल हो रहा

है, उसे तुम आह! एक सामान्य स्त्री, जा चली जा!—ले अपने भटार्क को, मुझे ऐसे कीट-पतङ्गों की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्मरण रखना, मुझसे न अड़ना! मैं हूँ अनन्त देवी!—तेरी कूटनीति के कटकित कानन की दावाग्नि!—तेरे गर्व शैल शृङ्ग का वज्र!! मैं वह आग लगाऊँगी—जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे।

(जाती है)

विजया—मैं कहीं की नहीं रही! इधर भयानक पिशाचों की लीला भूमि, उधर गम्भीर समुद्र! दुर्बल-रमणी-हृदय! थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंढा! क्रोध से अपने आत्मीय दयनीय जनों पर विष उगल देना, जिनको क्षमा की आवश्यकता है, जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वाञ्छा है, उनकी भूल पर कठोर फिटकार और बदला लेने की प्रतिज्ञा! और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम अनजाने हुए लोगों की भूल और दुःखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो भूल जाते हैं कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वही सची है, जहाँ स्वार्थ की भी बलि हो। चलूँ!—किधर? अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ!—कहाँ?—(उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है)

(पदच्युत नायक का प्रवेश—)

नायक—शांत हो!

विजया—कौन?

नायक—एक सैनिक।

विजया—दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है।

नायक—क्यों सुंदरी?

विजया—क्रूर! केवल अपने झूठे मान के लिये, बनावटी बड़प्पन के लिये, अपना दम्भ दिखलाने के लिये, एक अनियंत्रित हृदय का लोहों से खेल धोखा है। किसकी रक्षा किसकी दीन-यंत्रणा की सहायता के लिये तुम्हारे अस्त्र हैं?

नायक—साम्राज्य की रक्षा के लिये।

विजया—झूठ। केवल पेट के लिये, दूसरों पर आतंक जमाने के लिये! तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था! डाकू! थोड़े से ठीकरों के लिये, अमूल्य मानव जीवन का नाश करने वाले शिकारी कुत्ते!

नायक—(स्वगत)—पागल हो गई है क्या?

विजया—स्नेहमयी देवसेना का शङ्का से तिरस्कार किया, घमंड से, मिलते हुए स्वर्ग को तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कंद से विद्रोह किया, किस लिये?—केवल अपना रूप, धन, यौवन, दूसरे को दान करके, उन्हें नीचा दिखाने के लिये। और पतन हुआ मेरा! मैं गिरी गर्व के गर्त्त में! और स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति! ओह!

नायक—शांत हो!

विजया—शांति कहाँ? अपनों को दण्ड देने के लिये मैं स्वयं उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिये—मैं भी कुछ हूँ!

अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ रखा था। उन पर झूठा अभियोग लगा कर नीच हृदय को नित्य पराजित कर रही थी। अब उसका फल मिला। शांति कहीं नहीं।

नायक—रमणी! भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है। परन्तु जो जान-बूझ कर भूलभुलइयों को तोडने के अभिमान से घुसता है, जो गर्व से अपनी वस्तु दूसरों को देकर उन्हें बल से लौटाने का साहस करता है,—वह उसी चक्रव्यूह में स्वय मरता है, दूसरों को मारता है। शांति का, कल्याण का मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, तब सब तुम्हारा है।

विजया—(सिसकती हुई)—मैं अनाथा नि सहाया हूँ।

नायक—(बनावटी रूप उतारता है)—मैं शर्वनाग हूँ। मैं सम्राट का अनुचर हूँ। मगध की परिस्थिति देख कर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया—क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग?

शर्व०—हाँ, परन्तु, देश पर एक भीषण आतक है। भटार्क की पिशाच-लीला सफल होना चाहती है। विजया! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढे और युवकों को उसकी भलाई में लगना होगा। कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राज-सिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिये, हम देश की प्रत्येक गलियों को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें।

विजया—तुमने सच कहा। सबको कल्याण के शुभागमन के लिये कटिबद्ध होना है। चलो— (दोनों का प्रस्थान)

भटार्क का शिविर

(नर्त्तकी गाती है—) ,

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी,
भूल कर भी जब स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।
सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ,
नील-नीरद! क्या न बरसोगे कभी?
एक झोंका और मलयानिल अहा!
क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी।
कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह,
यह समस्या हल न होगी क्या कभी?

(कमला और देवकी का प्रवेश—)

देवकी—भटार्क! बता, कहाँ है मेरा सर्वस्व, मेरे आनंद का उत्सव, मेरी आशा का सहारा, कहाँ है?

भटार्क—कौन? तुम हो!

कमला—कृतघ्न! नहीं देखता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध की क्षमा की थी। जिन्होंने तुझ से घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही वही, देव-प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क—कौन? मेरी मा!

कमला—तू कह सकता है। परंतु, मुझे तुझको पुत्र कहने में सङ्कोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूँ। ओह! जिस

जननी की संतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसके लिये मुँह छिपाने को किस कालिख का मोटा परदा है? आह भटार्क!

भटार्क—राजमाता और मेरी माता!

देवकी—बता भटार्क! (वह आर्य्यावर्त्त का रत्न कहाँ है? देश का बिना-दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी कहाँ है?) उससे शत्रुता करते हुए तुझे

कमला—बोल दे भटार्क!

भटार्क—क्या कहूँ, कुभा के क्षुब्ध लहरों से पूछो, हिमवान के गल जाने वर्फों से पूछो कि वह कहाँ है! मैं नहीं

देवकी—आह! गया मेरा स्कंद!!—मेरा प्राण!!!

(गिरती है, मृत्यु।)

कमला—(उसे सम्हालती हुई)—देख पिशाच! एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले! नीच! पुण्य प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लेटता हुआ देख कर, एक बार हृदय खोल कर हँस ले! हा देवी!

भटार्क—क्या गई, मर गई?

कमला—मर गई—नहीं, इस यन्त्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाच-भूमि को छोड़ कर, अक्षय लोक को गई! और तू जीता रहा!—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने, और देश को अनाथ बना कर उसकी दुर्दशा कराने के लिये, नरक के कीड़े! तू जीता रहा!!

भटार्क—मा, अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई

अपराध करने का मेरा उद्देश नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कंदगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट होगा।

कमला—ओह! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मान कर, उसके दर्प में भूल कर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है! पामर! तू सम्राटों का नियामक बन गया? मैंने भूल की, सूतिका-गृह में तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला! आत्म हत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रायश्चित नहीं।

भटार्क—मा, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। (तलवार डाल देता है)

कमला—तूने विलम्ब किया भटार्क! महादेवी एक दिन जिसके संकेत पर गुप्त साम्राज्य नाचता था, आज उसकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिये कोई उपाय नहीं! हा दुर्दैव!

भटार्क—(सीटी बजाता है, सैनिक आते हैं)—महादेवी की अन्त्येष्टि-क्रिया राज सम्मान से होनी चाहिये—चलो, शीघ्रता करो!

(देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिल कर रखते हैं)

कमला—भटार्क! इस पुण्य चरण के स्पर्श से, संभव है, तेरा पाप छूट जाय।

(भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक)

[पट-परिवर्त्तन]

काश्मीर।

(न्यायाधिकरण में मातृगुप्त)

(एक स्त्री और दण्डनायक)

मातृगुप्त—नन्दीग्राम के दण्डनायक देवनद! यह क्या है?

देवनद—कुमारामात्य की जय हो! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त—फिर किसका है? तुम गुप्तसाम्राज्य के विधान भूल गये! प्रजा की रक्षा के लिये कर लिया जाता है, यदि तुम उसकी रक्षा न कर सके तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनद—परंतु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन-भर की भृति से भी उसका भरना असम्भव है।

मातृगुप्त—तब राज-कोष उसे देगा। और तुम उसका फल भोगोगे।

देवनद—परंतु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धि-शालिनी वेश्या है। यह अपने अंतरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ! गुप्तचर भी थक गए।

मातृगुप्त—हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनद—मालिनी।

मातृगुप्त—क्या ! मालिनी ?—(कुछ सोचता हुआ)—अच्छा जाओ, कोपाध्यक्ष को भेज दो।

(देवनद का प्रस्थान)

मातृगुप्त—मालिनी ! अवगुण्ठन हटाओ—सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ।

(मालिनी मातृगुप्त की ओर देखती है, मातृगुप्त चकित होकर देखता है)

मातृगुप्त—तुम कौन हो ?—मालिनी ! छलना ! ओह भ्रम है !

मालिनी—नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ ! अवगुण्ठन केवल इसी लिये था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी ! मातृगुप्त ! मैं वही हूँ।

मातृगुप्त—तुम ! नहीं मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवता—वेश्या ! असम्भव ! परंतु नहीं, वही है मुख ! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन-छाया डाल दी है—उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर, तुम वही हो—हा दुर्दैव !

मालिनी—दुर्दैव !

मातृगुप्त—मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाति छिपाये रहा। मूर्ख मैं आह ! मालिनी ! मेरे शून्य भाग्याकाश के मंदिर का द्वार खोल कर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था !—तुम्हीं मालिनी ! तुमने सोने के लिये नंदन का अम्लान कुसुम बेंच डाला ! जाओ मालिनी ! राज-कोष से अपना धन ले लो !

मालिनी—(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई)—एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त!

मातृगुप्त—मैं इतना दृढ नहीं हूँ मालिनी! कि तुम्हें इस अपराध में भूल जाऊँ। पर, वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें दृशन न होगा, ज्वाला होगी। धूँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्त्ति धुँधली होकर सामने आवेगी। जाओ।

(मालिनी का प्रस्थान, चर का प्रवेश—)

चर—कुमारामात्य की जय हो!

मातृगुप्त—क्या समाचार है? सम्राट का पता लगा?

चर—नहीं। पचनद हूणों के अधिकार मे है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं।

मातृ०—जाओ!

(चर का प्रस्थान)

मातृ०—तो सब गया! मेरी कल्पना के सुदर स्वप्नों का प्रभाव, नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे। एक बार आर्यावर्त्त में गौरव का सूर्य्य चमकेगा, और पुण्यकर्मों से समस्त पाप-पङ्क धो जायँगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गगा-यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सा, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर सतुष्ट करेगी, और आर्य्यजाति अपने दृढ सबल हाथों में शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमाचल की भाति सिर ऊँचा किये विश्व को सदाचरण के लिये

सावधान करती रहेगी ! आलस्य-सिंधु में शेष-पर्य्यंक-शायी सुषुप्ति नाथ जागेंगे, सिंधु मे हलचल होगी—रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्य्यावर्त्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी, ज्वालामुखी के समान देश की समस्त ज्वाला हिमवान अपने शीतल आवरण में ढँक लेगा ! उद्बोधन के गीत गाये, हृदय के उद्गार सुनाये, परन्तु पासा पलट कर भी न पलटा ! प्रवीर स्कंदगुप्त, उदार-हृदय, कहाँ हैं ! काश्मीर ! तुमसे विदा !

(प्रस्थान)

एक नगर प्रांत

(धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति)

प्रख्यात०—प्रिय वयस्य ! आज तुम्हें आये तीसरा दिन है, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्य्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है ?

धातुसेन—भारत केवल भारतवासियों का ही नहीं है, यह समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है। एक-से-एक सुदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिये मेरा सर्वस्व निछावर है। मित्र ! गुप्तसाम्राज्य की सेवा के लिये ही मैं यहाँ आया हूँ। मुझे यहाँ की सब परिस्थिति मालूम है। देखता हूँ, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं। महाबोधि विहारके संघ महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्त्ति रह गये हैं। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यात०—राजमित्र ! मुझे क्षमा कीजिये। मैं धर्म्म-लाभ करने के लिये भिक्षु हुआ हूँ, कुछ महास्थविर होने के लिये नहीं।

धातुसेन—मित्र ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यात०—वह तो विरक्त हो कर घूम रहा है !

धातुसेन—तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यात०—पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे ?

धातुसेन—जहाँ तक संभव हो, शीघ्र चलो।

(एक भिक्षु का प्रवेश—)

भिक्षु—आचार्य्य ! महान अनर्थ !

प्रख्यात०—क्या है, कुछ कहो भी !

भिक्षु—विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं। इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातु०—चलो, हम लोग भी चलें—उन उत्तेजित लोगों को शान्त करने का प्रयत्न करें।

(सब जाते हैं)

परिवर्त्तित दृश्य

(विहार के समीप चतुष्पथ। एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिये, दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित। दण्डनायक का प्रवेश-)

दण्डनायक—नागरिक गण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है। देखते नहीं हो कि, साम्राज्य बिना-कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो।

ब्राह्मण—इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है, कई बार के विताड़ित हूण, इन्हीं लोगों की सहायता से पुन आये हैं, इनके धर्म्म का और इनका नाश करके, तब हम लोग विश्राम करेंगे।

श्रमण—ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर के गड़े हुए यज्ञयूप, सद्धर्म्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों-से अभी भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्म्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यों के द्वारा बनते हैं, उन्हीं के सुख के लिये। जिस राष्ट्र और समाज से, हमारी सुख शान्ति में बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें, और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा। गुप्तसाम्राज्य ने मौर्य्यसाम्राज्य के ध्वंस पर क्या क्या अत्याचार नहीं किये।

ब्राह्मण—हुए हैं, और होंगे। ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनो तक विश्वनियता नहीं देख सकते। प्रकृति के नियमो में इतना बडा परिवर्तन कभी नहीं हो सकता। जो जाति विश्वके मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये है, वह कभी चरणो के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी—हमारे धर्म्माचरण में स्वय विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण—अनर्थ हो जायगा। निरीह प्राणियो के वध में कौन सा धर्म्म है ब्राह्मण? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति का, और अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था?—क्यों नही प्रतिवाद कर सके? क्यों नतमस्तक होकर, समग्र जम्बूद्वीप ने, उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार किया? वह अहम्भाव का दम्भ, पवित्रता का ठेका, आज भी लेकर तुम अत्याचार किया चाहते हो! यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दान्त ब्राह्मण-देव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शात करेंगे।

धातुसेन—(प्रवेश कर के)—जैसे 'अहम्' का, वैसे आत्मवाद का खडन कर के उन्होंने विश्वात्मवाद को ध्वंस नहीं किया, यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? इस उपनिषदों के नेति-नेति के व्यतिरेक से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धात, ससार में प्रचारित हुआ—मध्यमा प्रतिपदा के नाम से, कि व्यष्टिरूप में

आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। और शून्य भी नहीं है। तात्पर्य, समष्टिरूप में है भी, यही बीच का मार्ग है।

दण्डनायक—देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा, यहाँ बलि न होने दूँगा।

ब्राह्मण—क्यों न होने दोगे? अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आज गुप्त षडयंत्रों से गुप्तसाम्राज्य शिथिल है, कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म्म की रक्षा कर सके, जो धर्म्माचरण के लिये अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे। ओह, इतना नीचे! धर्म्मदेव! तुम कहाँ हो?

धातुसेन—सप्तसिंधु-प्रदेश नृशंस हूणों से पदाक्रांत है, जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। कहिये क्यों? क्षत्रिय राजा, धर्म्म का पालन कराने वाला राजा, पृथ्वी पर नहीं रह गया। आपने इसे विचारा है, सोचा है? नहीं। क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिये अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं? लोभ ने तुम्हारे धर्म्म का व्यवसाय चला दिया! दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे! कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिये, तुम्हारा धर्म्म आवरण हो गया है! जिस धर्म्म के आचरण के लिये—पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं हो सकता! फिर, अनधिकारियों को दूसरे धर्म्म का आश्रय ढूँढ़ना पड़ा, और आर्य्यराष्ट्र के नाश का सुगम पथ तुमने सकेत

द्वारा बतला दिया ! धर्म्म-वृक्ष के चारों ओर, स्वर्ण के कँटीदार जाल फैलाये गये हैं, और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है । जिन धनवानों के लिये तुमने धर्म्म को सुरक्षित रक्खा उन्होंने समझा कि धर्म्म धन से खरीदा जा सकता है, इस लिये धनोपार्जन मुख्य हुआ, और धर्म्म गौण। जो पारस्य देश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्म्मिक बने रहने के लिये, प्रभात मे एक गो-निष्क्रय भी कर सक्ता है। धर्म्म को बचाने के लिये तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता है—छि ! धर्म्म इतना निर्बल है कि वह पाशव-बल के द्वारा सुरक्षित होगा !!

श्रमण—प्रवृत्ति मूलक धर्म्म के व्यवसाय का यही परिणाम होगा। इसीसे तो तथागत ने निवृत्ति-पथ के धर्म्म का प्रचार किया है। उनकी अमोघ वाणी, विश्व के कल्याण के लिये प्रचारित हुई, कुछ व्यवसाय के लिये नहीं। परन्तु वर्तमान समय में दोनों, केवल आधारस्वरूपा प्रकृति की खिलवाड मे फँसे हैं। एक प्राकृत महत् का अन्तर्मुख विकास है—जो कष्ट छुडाने की प्रतिज्ञा करता है, तो दूसरा उसी प्रकृति का बहिर्मुख विस्तार है—जो जीवन के लिये सुख साधन की सामग्री जुटाने का प्रलोभन दिखाता है।

ब्राह्मण—तुम कौन हो ? मूर्ख-उपदेशक ! हट जाओ। तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध ! तुमको क्या अधिकार है कि तुम हमारे धर्म्म की व्याख्या करो।

धातुसेन—ब्राह्मण क्यों महान हैं ?—इसी लिये कि वे त्याग और क्षमा की मूर्त्ति हैं, इसी के बल पर बडे बड़े सम्राट

उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे और वे तपस्वी ऋत और अमृत वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए, साय प्रात अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया'।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखमाप्नुयात्॥

आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की संतान हैं। सात्विक ब्रह्म देव! नैतिक और सामाजिक दृष्टि से भी आपको विचार करना चाहिये, और धर्म्म के नाम पर तो बलि एकबारही बंद कर देनी चाहिये। देखिये, किसी कारण-वश आपके पुरखों ने आपके प्राचीन धार्म्मिक कर्म्म—अनेक यज्ञों को एक बार ही बंद कर दिया था! इसलिये हम यह मानते हैं कि हमारा धर्म्म अवरोधक नहीं है। हमने समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तनों को स्वीकार किया है। क्योंकि, मानव-बुद्धि ईश्वरीय ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिले हैं—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी, और यही हमारे धर्म्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्त्ति—धर्म के अधभक्तो! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिये, सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। क्योंकि, इस असत्य सदृश ससार में सत्य उसी का आश्रय लेकर प्रकट होता है, यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न कुछ प्राचीन असत्य-परम्पराओं का आश्रय इसी नीति से ग्रहण करना पड़ता है, यदि ऐसा न करें तो उसके अनुयायी न मिलें। भीतर अपने दोषों को ढूँढो, तुम बहुत सी त्रुटियाँ अपने में

पाओगे। क्या कोई भी इस धर्म्म से मुक्त होगा? आर्य्यधर्म्म इसी से महान है कि वह सब सत्यों का समादर करता है, उसके ज्ञान-ग्रन्थ वेदों में, सब धर्म्मों के सूत्र सकलित हैं। भिक्षु-गण! इसी-से गौतम कहा करते थे कि, मैं पूर्व ऋषियों का धर्म्म कह रहा हूँ। प्रत्येक धर्म्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत हो रहे हैं, और होंगे। हम लोगों को हठधर्म्मी से उन आगतुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिये। हम लोग एक ही मूल धर्म्म की दो शाखायें हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार-विचार के फूलों से, दु ख दग्ध मानवों का कठोर-पथ कोमल करें।

बहुतसे लोग—ठीक तो है, ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं, और आततायियों को देख कर, घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड जाते।

दण्डनायक—यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्त्ति—बौद्ध जनता से मेरा निवेदन है कि, मैं इस विहार का आचार्य्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में उन्हें माननी चाहिये। मैं जानता हूँ कि, भगवान ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसी लिये धर्म्म है। वह तिर्य्यक-योनि का प्राणी है इसी लिये वध्य नहीं हो सकता। कुछ इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि, तुम लोग स्वय इसके लिये युद्ध करो, और हत्या की सख्या की वृद्धि हो! अत यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे

कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं ? क्योंकि, इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य, ब्राह्मणों की दृष्टि में विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है ?

(योद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यात०—(हँस कर)—यही आप का धर्म्मोन्माद था ?—एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म्म करना, और धर्म्माचरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है ? जाइये, घर लौट जाइये !—(ब्राह्मण से)—आओ रक्त पिपासु धार्म्मिक ! लो—मेरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो !—(सिर झुका देता है)

ब्राह्मण—(तलवार फेंक कर)—धन्य हो महाश्रमण ! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे-ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं ! मैं बलि नहीं करूँगा।

(जनता में जयजयकार, सब धीरे धीरे जाते हैं ।)

(पथ में विजया और मातृगुप्त)

विजया—नहीं कविवर ! ऐसा नहीं ।

मातृगुप्त—कौन ?—विजया !

विजया—आश्चर्य्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि शिरोमणे ! तलवार भले रख दो, परन्तु, तुम्हें अपनी वीणा तीसरी सप्तक में मिलानी चाहिये ! (गा चुके मिलन संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, और रो चुके प्रेम के पचड़े ! एक बार वह उद्बोधन गीत गा दो, कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके, अमर भारत की सेवा को सन्नद्ध हो जाँय !)

मातृगुप्त—देवी ! तुम देवी

विजया—हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिये, तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मण्डल दे दिया था—आज तुम उसी सम्राट को खोजते हो। एक नहीं ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार-युवक, इस जन्म-भूमि पर निछावर हो जाँय ! जरा सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय, और समुद्र काँप कर रह जाय ! अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारत वासी जग पड़ें ! हम-तुम गली-गली कोने-कोने पर्य्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे !

मातृगुप्त—वीरबाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा—(देख कर)—वह लो—चक्रपालित आ रहा है !

(चक्रपालित का प्रवेश—)

/ चक्र०—लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-विन्दु, आकाश के मेघ-समारोह, अरे, इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं

की प्रभात-लीला, मनुष्य की अदृष्ट लिपि-जैसे रेखाओं-से कृष्णमेघ की बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली, भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य, अतीत का स्वामी और वर्तमान का सहचर, तेरा जीवन क्या है ?

मातृगुप्त—बंधु चक्रपालित ! सावधान !

चक्र०—कौन ? मातृगुप्त !

भीम०—(सहसा प्रवेश करके)—कहाँ है मेरा भाई, मेरे हृदय का बल, भुजाओं का पराक्रम, आँखों का तेज, वसुधरा का शृंगार, वीरता का वरणीय बंधु, महाराज मालव मुकुट आर्य बंधुवर्म्मा ?

(प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश-)

प्रख्यात०—सब पागल, लुट गये-से, अनाथ और आश्रय-हीन,—यही तो हैं। आर्य्यराष्ट्र के कुचले हुए अङ्कुर, भग्न साम्राज्य पोत के टूटी हुई पतवार और पटरे, ऐसे वीर हृदय ! ऐसे उदार !!

मातृगुप्त—तुम कौन हो ?

प्रख्यात०—सम्भवत तुम्हीं मातृगुप्त हो ?

मातृगुप्त—(शंका से देखता हुआ)—क्यों शिकारी कुत्तों के समान सूँघते हुए यहाँ भी ! परंतु तुम

प्रख्यात०—संदेह मत करो मातृगुप्त ! शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगों की खोज रहा हूँ। यह लो—प्रमाण-पत्र !

मातृगुप्त—(पढ़ कर)—धन्य सिंहल के युवराज ! श्रमण !

कह देना, मैं आज्ञानुसार चलूँगा, और कनिष्क चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यात०—कल्याण हो!—(जाता है)

विजया—कहाँ चलें हम लोग ?

मातृगुप्त—उसी जंगल में।

(सब लोग जाते हैं)

(विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का प्रवेश—)

स्कंद०—बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति, मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है। उसी खिलवाडी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी के टोकरों से भी तुच्छ है।

करुणा-सहचर! तुम्हारा न्याय भी कभी-कभी करुणा के सङ्केत से हलचल हो जाता है। तुम हो अनंत शक्तिशाली, परन्तु करुणा के आधीन हो। इसीसे जिस पर कृपा होती है, उसे दुःख का अमोघ दान देते हो। नाथ! मुझे दुःखों से भय नहीं, संसार के संकोच-पूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनो से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है! परंतु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! यह आर्य्यसाम्राज्य का नाश इन्ही आँखो को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है! मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारोंका महान आश्रय वृक्ष—गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही! कर्त्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अंधकार पूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है! अवलम्ब दो नाथ!

कह देना, मैं आज्ञानुसार चलूँगा, और कनिष्क चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यात०—कल्याण हो !—(जाता है)

विजया—कहाँ चलें हम लोग ?

मातृगुप्त—उसी जंगल में।

(सब लोग जाते हैं)

(विचित्र अवस्था में स्कदगुप्त का प्रवेश—)

स्कद०—बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति, मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है। उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी के ठोकरों से भी तुच्छ है।

करुणा-सहचर! तुम्हारा न्याय भी कभी-कभी करुणा के सङ्केत से हलचल हो जाता है। तुम हो अनत शक्तिशाली, परतु करुणा के आधीन हो। इसीसे जिस पर कृपा होती है, उसे दुःख का अमोघ दान देते हो। नाथ! मुझे दुःखों से भय नहीं, ससार के सकोच-पूर्ण सकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बधनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है! परतु   यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! यह आर्य्यसाम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है! मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारोंका महान आश्रय वृक्ष—गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया। मन बहलाने को कोई वस्तु न रही! कर्त्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अधकार-पूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनत सागर का सतरण है! अवलम्ब दो नाथ!

बजा दो वेणु मनमोहन ! बजा दो ।
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो ॥

विमल स्वातन्त्र्य का बस मन्त्र फूँको ।
हमें सब भीत बंधन से छुड़ा दो ॥

सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ ।
रसीले राग में मन को मिला दो ॥

तुम्हीं सत हो इसी की चेतना हो ।
इसे आनंदमय जीवन बना दो ॥

(प्रार्थना में झुकता है, उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश—)

शर्व०—छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के माँस की तरह सेंकने लगे। जिन पर विश्व-भर का भाण्डार लुटाने को मैं प्रस्तुत था उन्हींको राक्षसों ने—हूणों ने—लुटेरों ने गुदडी के लालों की तरह लूट लिया। किसने देखा ? किसने आहों को सुना ?—भगवान ने ? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी नहीं देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्य्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के हृत्-कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है।—पिघल कर क्यों नहीं समुद्र में जा मिलता ? अरे जड़, मूक, वधिर, प्रकृति की टीले। ओह !!

(जाता है)

स्कंद०—कौन है ? यह शर्वनाग है क्या ? क्या अन्तर्वेद भी

हूणों से पादाक्रांत हुआ? ओ आर्य्यावर्त्त के भाग्याकाश के काले मेघ! तू आग के अक्षरों से, बिजली के हाथों से, क्या भविष्यत् लिख रहा है? तू कठोर करकापात करेगा या शीतल वर्षा? भगवन्! यह अर्धोन्मत्त शर्व देश की प्रतिकृति है! आर्य्यसाम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है! कितना वीभत्स है! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल वृन्द सडी लोथ नोच रहे हैं! इस परिवर्त्तन का, इस सुशासित साम्राज्य के नाश का क्या कारण है?

(पगली रामा का प्रवेश, स्कंद को देख कर—)

रामा—लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ? तेरे दाँतों से टूटेंगी? देख तो—(हाथ बढाती है)

स्कंद०—कौन? रामा!

रामा—मैं हू, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला! (ठहर कर)—मेरी? मेरी संतान कभी नहीं! इन अभागों की-सी न नहीं थीं। वे तो तलवार की धारीक धार पर पैर फैला कर सोना जानती थीं! धधकती हुई ज्वाला में हँसते हुए कूद पडती थीं! तुम—(देखती हुई)—लुटेरे भी नहीं, उहूँ, कायर भी नहीं, अकर्म्मण्य बातों में भुलाने वाले तुम कौन हो? देखा था एक दिन! देख, यही तो है जिसने अपनी प्रचण्ड हुङ्कार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मार कर सोई हुई अकर्म्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोएँ खड़े हो जाते थे, भुजायें फड़कने लगती थीं—वही स्कंद—रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय, और आर्य्यावर्त्त की छत्रच्छाया, नहीं, भ्रम हुआ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज, उसीके मलिन चित्र-से तुम कौन हो?—(प्रस्थान)

स्कंद०—आह! मैं वही स्कंद हूँ, अकेला, निस्सहाय!

(कुटी खोल कर बाहर निकलती हुई कमला)

कमला—कौन कहता है तुम अकेले हो! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य्य स्रोत से लड़ जाओ!—तुम्हारे प्रचण्ड और विश्वास पूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते?—समझ लो, जो अपने कर्म्मों को ईश्वर का कर्म्म समझ कर करता है वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो स्कंद! आसुरी वृत्तियों को नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोने वालों को हँसाओ! आर्य्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा, और उस आर्य्यपताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर!

स्कंद०—कौन तुम?—भटार्क की जननी!

(नेपथ्य से क्रन्दन—'बचाओ बचाओ!' का शब्द)

स्कंद०—कौन? देवसेना का-सा शब्द! तलवार—मेरा खड्ग कहाँ है?—(जाता है)

(देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश, दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त।)

देवसेना—भीम, भाई! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये?

विजया—अरे मुद्गल ! जैसे पहिचानते ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी ? मुझे बेजान-पहचान की छेड़छाड़ अच्छी नहीं लगती और तिस पर ज्योतिषी। जहाँ देखो, वहीं यह प्रश्न। मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—"मुझसे रूठे हुए हैं ? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है ? वह सुंदरी कब मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ?"—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरु जी से पाठ में पढ़ा है। अभिचार के लिये, जुआ खेलने के लिये, प्रेम के लिये, और भी, अभिसार के लिये, मुहूर्त पूछे जाते हैं। यह भी कोई देश है।

विजया—क्या मुद्गल ! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है ?

मुद्गल—अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करें ? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों का दलाल है। परन्तु, मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल !

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखण्ड वेग है, [illegible] से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भाण्डार

पंचम अंक

(पथ में मुद्गल)

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे, कभी दुर्वृत्त दानव, कभी स्नेह संवलित मानव, कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार, भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुन कर कि बंधुवर्म्मा वीरगति को प्राप्त हुए, सती हो गई! और ... को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त, देवकुलिक का-सा महादेवी की ... जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्म्मा ... गुप्त, राजाधिराज को खोज रहे हैं। सब विक्षिप्त ... मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ ... उस पर विश्वास करने का मन नहीं करता। ... के साथ हूणों से संधि कर ली है, मगध में महादेवी ... भट्टारक का अभिनय हो रहा है। 'प्रकाशादित्य' उपाधि है, परंतु, प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है। गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं। समस्त भारत ... चरणों में लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के ... अपने कर्म्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। और मुद्गल ... रहा है—(सामने देख कर)—ओ लो ... रही है। तो हट चलूँ।

(जाना चाहता है)

विजया—अरे मुद्गल! जैसे पहिचानते ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी? मुझे बेजान-पहचान की छेड़छाड़ अच्छी नहीं लगती और तिस पर ज्योतिषी। जहाँ देखो, वहीं यह प्रश्न। मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—"मुझसे रूठे हुए हैं? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है? वह सुंदरी कब मिलेगी? मिलेगी या नहीं?"—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरु जी से पाठ में पढ़ा है। अभिचार के लिये, जुआ खेलने के लिये, प्रेम के लिये, और भी, अभिसार के लिये, मुहूर्त्त पूछे जाते हैं। यह भी कोई देश है!

विजया—क्या मुद्गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है?

मुद्गल—अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करे? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों का दलाल है। परंतु, मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल!

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखण्ड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भाण्डार है, जो अपने सुख, अपनी तृप्ति के लिये संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध?

विजया—न सही, परंतु इतना तो तुम बता सकोगे, सम्राट स्कंदगुप्त से कहाँ भेंट होगी? क्योंकि, यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेंट करोगी ! किस मुँह से ? चाहे प्रकट न हो, परंतु, अवन्ती मे एक दिन यह बात सब जानते थे कि, विजया महादेवी होगी !

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल ! आज मैं फिर कुछ कहा चाहती हूँ । वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था ।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है । लज्जा से छि

विजया—मुद्गल ! बता दोगे ?

मुद्गल—तुम विश्वास के योग्य नहीं ।

विजया—सौगन्द तुम्हें मुद्गल !

मुद्गल—रमणी हृदय ! बडी शीघ्रता से लिखे हुए बिजली के अक्षर पढे जा सकते हैं, परतु तेरी गुप्तलिपि ! परतु, अब और तुम क्या कर लोगी । आज कमलादेवी की कुटीर से सम्राट अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं, उसी कनिष्क स्तूप के पास। अच्छा मैं जाता हूँ । शर्वनाग और रामा का भी स्वास्थ्य ठीक हुआ है । अतर्वेद के आक्रमण में अनतदेवी की प्रवञ्चना से वह पराजित हुआ, और उसके सब लडकों को हूणों ने वध कर डाला । वह पागल हो गया था, रामा की भी वही दशा थी । अब उन दोनों की दशा सुधरी है । भूखे और नगे सम्राट की सेवा में सब दिन बिता रहे हैं । देखो विजया ! मैंने बता तो दिया, पर, -सावधान !

(जाता है)

विजया—उसने ठीक कहा । मुझे स्वय अपने पर विश्वास

नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की श्रोर दौड़ पड़ी, परतु क्या, यह सच्चा परिवर्तन है ? क्या मैं अपने को भूल कर देश-सेवा कर सकूँगी। क्या देवसेना श्रोह ! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कदगुप्त सम्राट् नहीं हैं, प्रति-हिंसे, सो जा ! क्या कहा ?—नहीं। देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परतु विजया भी एक बार वही करेगी। देश सेवा तो होहीगी, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकी ! मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना सकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी !—क्या नहीं होगा ? अवश्य होगा ? अदृष्ट ने इसीलिये उस रक्षित रत्नगृह को बचा रखा है। उससे एक साम्राज्य खरीद सकती हूँ। तो आज वही करूँगी, और इसमें दोनों होगा—स्वार्थ और परमार्थ। तो चलूँ। (प्रस्थान)

(भटार्क का प्रवेश—)

अपने कुकर्म्मों का फल चखने में कड़वा, परतु, परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त, और ऐसा परोपकारी सम्राट किसी देश को भाग से ही मिल सकता था। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया। आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस बूढे अमात्य ने कहा था—"भटार्क, सावधान ! जिस कालभुजगी राष्ट्रनीति को लेकर तुम खेल रहे हो, उसकी प्राण देकर भी रक्षा करना।" हाय ! न हम उसे वश में कर सके, और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ, पाखण्ड की सीमा तक पहुँच गया ! अनतदेवी—एक

क्षुद्र नारी,—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ा। हूणों का हुंकार सुन कर जी में आता है कि, एक बार सिंह-विक्रम से लड़ूँ, परंतु, प्रतिज्ञा ने—माता के सामने की हुई प्रतिज्ञा ने—मुझे जकड़ रक्खा है। स्कंदगुप्त हैं तो आशा है। सुना है कि कहीं यहीं वे भी हैं, चलूँ उस महल का दर्शन तो कर लूँ।

कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि ।

पर्णदत्त—सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं । जिन्हे कुत्तों को देते हुए सकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का सञ्चय ! अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ । मैं रोऊँगा नहीं, परतु, यह रक्षा क्या केवल मिट्टी का बोझ वहन करने के लिये हैं ? नहीं, पर्ण ! रोना मत । एक बूँद भी आँसू आँखों से न दिखाई पडे । तुम जीते हो, तुम्हारा उद्देश है, सफल होगा । भगवान तुम्हारे लिये रोएँगे । और, यदि होंगे तो कहेंगे कि, मेरी दृष्टि मे एक सच्चा हृदय था । उन्हे भी देख कर आश्चर्य करना होगा । सन्तोष कर उछलते हुए हृदय ! सतोष कर, तू रोटियों के लिये नहीं जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने उत्पन्न किया है । परतु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वाग भरते नही बनता, परतु क्या करूँ ? देशके बहुतसे दुर्दशा ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिये करना पडेगा । मै क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म्म होगा, साक्षी रहना भगवन् !

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्ण०—बाबा ! कुछ दे दो ।

नागरिक—और वह तुम्हारी, गई वह

पर्ण०—मेरी बेटी स्नान करने गई है । बाबा ! कुछ दे दो ।

नागरिक—मुझे उसका गान बडा प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हे कुछ अवश्य मिल जाता । अच्छा फिर आऊँगा ।—(जाता है)

पर्ण०—(दाँत पीस कर)—नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीडा। बालों को सँवार कर, अच्छे कपडे पहन कर, अभी शान से निकलता है। घरके कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई। जिस देश के युवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार मे जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज।

देवसेना—(प्रवेश करके)—क्या है बाबा। क्यों चिढ रहे हो ? जाने दो, जिसने नहीं दिया—उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्ण०—अपना। देवसेना। अन्न पर स्वत्व है भूखों का, और धन पर स्वत्व है—देशवासियो का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिये—हम भूखों के लिये रख छोडा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिये उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिये नहीं ? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिये कि

देवसेना—बाबा। क्षमा करो। आने दो, कोई तो देगा।

पर्ण०—हमारे ऊपर सैकडों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। बेटी। वे युद्ध में मरना जानते हैं, परतु, भूख से तडपते हुए उन्हें देख कर, आँखो से रक्त गिर पडता है।

देवसेना—बाबा। महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ, फूल भी चढा दिये हैं। कई दिन से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं, सब कहाँ हैं ?

पर्ण०—आवेंगे बेटी! तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।

(प्रस्थान)

देवसेना—संगीत सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रय-हीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति एक क्षुद्र नारी जीवन। मेरे प्रिय-गान! अब क्यों गाऊँ, और क्या सुनाऊँ? इस बार-बार की गाई हुई गीतों में क्या आकर्षण है? क्या बल है, जो खींचता है? केवल सुनने को ही नहीं, प्रत्युत्, जिसके साथ अनंतकाल तक कण्ठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है, और, आकांक्षा होती है कि उसे ही रोकर गाऊँ।

(गाती है—)

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश?
हृदय! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें
रस निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस
हृदय! तू है बना जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें
मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें?

(वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश—)

स्कन्द०—जननी! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम।

(समाधि के समीप घुटने टेक कर फूल चढ़ाता है)

मा ! अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसीसे यह कष्ट, यह अपमान ! मा ! तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अभिशाप ! मा ! क्षमा करो ।

(देवसेना का प्रवेश—)

(पहचानती हुई)—कौन ? अरे !—(पहचान कर)—"जय हो ! सम्राट की जय हो !!"

स्कंद०—कौन ?—देवसेना !

देवसेना—हाँ राजाधिराज । मेरे भाग्य ! आज दर्शन हुए !

स्कंद०—देवसेना ! बड़ी बड़ी कामनायें थीं ।

देवसेना—सम्राट !

स्कंद०—क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है ?

देवसेना—हाँ, यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कंद०—ओह ! मालवेश-कुमारी देवसेना ! तुम और यह कर्म्म ! समय जो चाहे करा ले ! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था । (सगमर्था)

देवसेना ! देवसेना !! मेरा प्रायश्चित्त ?(आज मैं बधुवर्म्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगा ? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पण कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा ?)उसके निस्सहाय परिवार का भिक्षा पर अवलम्बन मैं देखता हूँ और जीता हूँ ।

देवसेना—मैं अपने लिये ही नहीं माँगती देव ! आर्य्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निर-

वलम्ब हैं। किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खण्ड। उन सबकी सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कद०—वृद्ध पर्णदत्त, सच्चा स्वामिभक्त पर्णदत्त! तात!! तुम्हारी यह दशा!!! जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है! देवसेना! अब इसका कोई काम नहीं, चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न होंगे। (साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पण करके उऋण होऊँगा, और एकातवास करूँगा।)

देवसेना—क्या? सो नहीं होगा सम्राट! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिये उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिये।

स्कद०—देवसेना! बधु बधुवर्म्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परतु क्षमा हो सम्राट! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परतु, आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कद०—देवसेना! एकात में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं,—एक बार कह दो!

देवसेना—तव तो और भी नहीं। मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु, उसका उद्देश भी सफल होना चाहिये। आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना न जिये। सम्राट, क्षमा हो। इस हृदय में आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया, और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर, मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

(पैर पर गिरती है)

स्कंद०—(आँसू पोंछता हुआ)—उठो देवसेना! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना—हैं, हैं, यह क्या किया!

स्कंद०—कल्याण का श्रीगणेश। यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका तो उसे पुरगुप्त के लिये निष्कण्टक छोड़ जा सकूँगा।

देवसेना—(निश्वास लेकर)—देवव्रत! तुम्हारी जय हो! जाऊँ आर्य्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ।—(प्रस्थान)

स्कंद०—ऐसा पवित्र सुकुमार और ऐसा कठोर हृदय!

(विजया का प्रवेश—)

विजया—इतना रक्तपात, और इतनी ममता, इतना मोह!—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब भी मैं मरती हूँ। मेरे स्कंद! मेरे प्राणाधार!

स्कंद्—(घूम कर)—यह कौन, इन्द्रजाल मंत्र ? अरे, विजया।

विजया—हाँ, मैं ही हूँ।

स्कद०—तुम कैसे ?

विजया—तुम्हारे लिये मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है।

स्कद०—नहीं विजया। उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया—नहीं, मुझे कहने दो—(सिसकती हुई)—मैं अब भी

स्कद०—चुप रहो विजया। यह मेरी आराधना की, तपस्या की भूमि है, इसे प्रवञ्चना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले, तो मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

विजया—मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो।

स्कद०—परतु, साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेंच सकता। विजया। चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसङ्ग यहीं तक।

विजया—मैंने देशवासियो को सन्नद्ध करने का सकल्प किया है, और भटार्क का ससर्ग छोड दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। परंतु, तुम्हारा मनेरथ भी क्या बिना अर्थ के पूर्ण होगा ? मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतत्र करा दूँगी, अर्थ लोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना हमारा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कंद०—छि विजया! तुमने इतना लोभी मुझे समझ लिया है। मैं सम्राट बन कर सिंहासन पर बैठने के लिये नहीं हूँ। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।

विजया—क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गई है? आओ, हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो।

स्कंद०—और असहाय दीनों को, राक्षसों के हाथ, उनके भाग्य पर छोड़ दें?

विजया—कोई दुःख भोगने के लिये है, कोई सुख। फिर सबका बोझ अपने सिर पर लाद कर क्यों व्यस्त होते हो?

स्कंद०—परंतु, इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व-नियन्ता का ऐसा ही उद्देश मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ? विजया! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके सङ्केत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसीसे मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिये स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक

विजया—रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय, विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है, उन्मुक्त आकाश के नील नीरद-मण्डल में, दो विजलियों के

समान क्रीडा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जाँय। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी, जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिये बन्द कर रक्खे। वर्षा की बढ़िया सी हमारे विलास का स्रोत चेतन के अस्तित्व को डुबो दे, और हम लोगों की जीवन-तरी थिरकती हुई मनमानी चाल से बह चले। स्वर्ग-कल्पित अप्सरा और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देख कर आश्चर्य चकित हों, वही मादक-सुख, घोर आनन्द, विराट विनोद, हम लोगों को आलिङ्गन करके धन्य हो जाय।—

अगर धूम की श्याम-लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से।
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से॥
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र हृदय घनमाला से।
आँसु बरनीसे उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से॥
इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से।
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से॥
छवि प्रकाश किरनें उलझी हों जीवनके भविष्य तम से।
ये लायेंगी रङ्ग सुलालित होने दो कम्पन सम से॥
इस आकुल जीवनकी घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से।
बजा करें अगणित यन्त्रों से सुख-दुखके अनुपातों से॥
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो।
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लान्छित हो॥
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ।
निर्दयता के इन चरणों से जिसमें तुम भी सुख पाओ॥

(स्कन्द के पैरों को पकड़ती है)

स्कंद०—(पैर छुड़ा कर)—विजया! पिशाची!! हट जा, नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार व्रत की प्रतिज्ञा की है!

विजया—तो क्या मैं फिर हारी?

(भटार्क का प्रवेश—)

भटार्क—निर्लज्ज हार कर भी नहीं हारता, मर कर भी नहीं मरता!

विजया—कौन?—भटार्क!

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे! सुना था कि, तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु, हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा! कभी पिशाची शांति पाठ पढ़ेगी!

विजया—अपराध हुआ भटार्क!

भटार्क—फिर भी किसके साथ?—जिसके ऊपर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूँ, जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था! नीच स्त्री!

विजया—घोर अपमान, तो बस, अब नहीं

(छुरी निकाल कर आत्म हत्या करती है)

स्कंद०—भटार्क! इसके शव का सत्कार करो।

भटार्क—देव! मेरी भी लीला समाप्त है!

(छुरी निकाल कर अपने को मारना चाहता है, स्कंद हाथ पकड़ लेता है—)

स्कंद—तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित्त नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्मभूमि का उपकार करो। भटार्क! हम अकेले हूणों से

युद्ध करेंगे, यदि कोई साथी न मिला। साम्राज्य के लिये नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिये, और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करूँगा। तुमने अपनी प्रतिज्ञा भग करके, आत्म हत्या के लिये अस्त्र ग्रहण किया है, अब इसे शत्रु के लिये सुरक्षित रक्खो।

भटार्क—(स्कद के सामने घुटने टेक कर)–" श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो। "–जैसी आज्ञा होगी, वही करूँगा।

स्कद०—पहिले इस शव का प्रबन्ध होना चाहिये।–(प्रस्थान)

भटार्क—(स्वगत)–इस घृणित शव का अग्नि-सस्कार करना ठीक नहीं, तो लाओ इसे यहीं गाड दूँ।

(भूमि खोदते हुए एक भयानक शब्द के साथ रत्नगृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना, स्कदगुप्त का आकर रत्नगृह देखना—)

स्कद०—भटार्क। यह तुम्हारा है।

भटार्क—हाँ सम्राट। यह हमारा है, इसीलिये देश का है। आज से मैं सेना-सकलन में लगूँगा।

स्कद०—वह दूर पर बडी भीड हो रही है, स्तूप के पास।

भटार्क—नागरिकों का उत्सव है।–(रत्नगृह बद कर के)–चलिये देखूँ।

परिवर्त्तित दृश्य ।

(स्तूप का एक भाग—नागरिकों का आना, उन्हींमें वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्म्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा—इत्यादि । दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्तका हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश—)

१-नागरिक—अरे, वह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय ।

२-नागरिक—हाँ रे छोकरी ! कुछ गा तो ।

पर्ण०—भीख दो बाबा ! देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा !

१ नागरिक—अरे गाने भी दे बूढे !

पर्ण०—हाय-रे अभागे देश !

(देवसेना गाती है—)

देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे ?
हारते ही रहे, न है कुछ अब,
दाँव पर आपको न हारोगे ?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर,
दीन हो दैव को पुकारोगे ?
सो रहे तुम, न भाग्य सोता है,
आपनी बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे ।
दीन-जीवन बिताओगे कब तक,
क्या-से-क्या हो गये बिचारोगे ?

पर्ण०—नहीं बेटी, ये निर्लज्ज कभी नहीं विचार करेंगे ।

चक्रपालित और भीमवर्म्मा—"आर्य्य पर्णदत्त की जय।"

पर्ण०—मुझे जय नहीं चाहिये।—भीख चाहिये। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिये उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिये॥ कोई देगा भीख में ?

स्कंद०—(भीड़ में से निकल कर)—मैं प्रस्तुत हूँ तात।

भटार्क—"श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो।"

(नागरिकों में से बहुत से युवक निकल पड़ते हैं)

सब—हम हैं, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं।

स्कंद०—आर्य्य पर्णदत्त।

पर्ण०—आओ वत्स। सम्राट॥—(आलिङ्गन करता है)

(उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है। चक्रपालित, भीमवर्म्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा, सबका प्रकट होना—जयनाद।)

महाबोधि विहार।

(अनतदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्त्ति, हूण सेनापति ।)

अनत—इसका उत्तर महाश्रमण देंगे ।

हूण-सेनापति—मुझे उत्तर चाहिये, चाहे कोई दे ।

प्रख्यात०—सेनापति! मुझसे सुनो। समस्त उत्तरापथ का बौद्ध सघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था, वह अब न होगा ।

हूण-सेना—सभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण सैनिकों को मिलती थी, बद हो गई, और उलटे तिरस्कार!

प्रख्यात०—वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि, हूण लोग सद्धर्म्म के उत्थान करने में सहायक होंगे, परन्तु, ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म्म कोई आश्रय नहीं देगा।—(पुरगुप्त की ओर देखकर)—यद्यपि ऐसे अकर्मण्य युवक को वह आर्य्यसाम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखा चाहता, तो भी बौद्ध धर्म्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे। अनतदेवी, सावधान!

अनत०—भिक्षु! क्या कह रहे हो? समझ कर कहना!

हूण-सेना०—गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कदगुप्त फिर जी उठा है, और सिंधु के इस पार के हूण उसके अवरोध में हैं, सभवत कहरूर में युद्ध होगा। तब तक के लिये सघ को प्रतिज्ञा भग न करनी चाहिये ।

पुरगुप्त—क्या युद्ध! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नहीं

अनत—चुप रहो।

पुरगुप्त—तब फिर एक पात्र।—(सेवक देता है)

प्रख्यात०—अनार्य्य । विहार में मद्यपान !—निकलो यहाँ से ।

अनंत०—भिक्षु ! समझ कर बोलो, नहीं तो मुण्डित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा ।

हूण-सेना०—इसी की सब प्रवञ्चना है, इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा ।

प्रख्यात०—क्षणिक और अनात्मभव में किसका कौन वध करेगा मूर्ख !

हूण-सेना०—पाखण्ड ! मरने के लिये प्रस्तुत हो !

प्रख्यात०—सिंहल के युवराज की प्रेरणा से, हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं, वहाँ से नहीं लौट सकते ।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है—)

कुमार धातुसेन—(सहसा प्रवेश करके)—"सम्राट स्कंदगुप्त की जय ।"

(सैनिक सबको बन्दी कर लेते हैं)

धातु०—कुचक्रियो ! अपने फल भोगने के लिये प्रस्तुत हो जाओ । भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से, यह उन्हीं की लगाई हुई ज्वाला शांत होगी ।

अनंत०—धातुसेन ! यह क्या, तुम हो !

धातु०—हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेला की गई, यह उसी का परिणाम है । देश-द्रोह के लिये किसी भी बड़े-छोटे का विचार करने का अधिकार केवल सम्राट को दया को है ।—(सैनिकों से)—सबको शीघ्र साम्राज्य स्कंधावार में ले चलो ।—(सबका प्रस्थान)

कुभा का रणक्षेत्र ।

(सम्राट स्कंदगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीम वर्म्मा, इत्यादि, सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं ।)

मातृगुप्त—वीरो !—(गान)—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक
व्योम तम-पुञ्ज हुआ तब नाश अखिल संसृति हो उठी अशोक
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तब मधुर साम-संगीत
बचा कर बीज रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत
अरुण केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि युग का मेरे इतिहास
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह
धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुई करती बलि, कर दी बंद
हमीं ने दिया शांति संदेश सुखी होते देकर आनंद
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर घर घूम
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि
मिला था स्वर्ण भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि
किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं
हमारी जन्मभूमि थी यही कहीं से हम आये थे नहीं

जातियों का उत्थान पतन आँधियाँ, झडी, प्रचण्ड समीर
खड़े देखा, झेला हँसते प्रलय में पले हुए हम वीर
चरित थे पूत भुजा में शक्ति नम्रता रही सदा सम्पन्न
हृदय के गौरव में था गर्व किसी को देख न सके विपन्न
हमारे सञ्चय में था दान अतिथि थे सदा हमारे देव
वचन में सत्य, हृदय में तेज प्रतिज्ञा में रहती थी टेव
वही है रक्त, वही है देश वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शान्ति, वही है शक्ति वही, हम दिव्य आर्य्य सतान
जियें तो सदा इसीके लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष

सब—(समवेत स्वर से)—जय ! राजाधिराज स्कदगुप्त की जय !!

(खिङ्गिल का हूण सेना के साथ आगमन—)

खिङ्गिल—बच गया था भाग्य से—फिर सिंह के मुख में आना चाहता है ! भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी !

स्कद०—यह बात करने का स्थल नहीं, सावधान !

(घोर युद्ध, खिङ्गिल घायल होकर बदी होता है । वृद्ध पर्णदत्त की—सम्राट को बचाने में—मृत्यु, गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है ।)

स्कद०—धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त !

सब—आर्य्य पर्णदत्त की जय ! आर्य्य साम्राज्य की जय !!

(बदी वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश-)

स्कद०—मेरी सौतेली माता ! इस विजय से आप सुखी होंगी !

अनंत०—क्यों लज्जित करते हो स्कंद ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो।

स्कंद०—आह ! यही यदि होता मेरी विमाता ! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनंत०—मुझे क्षमा करो सम्राट !

स्कंद०—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म्म मे प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परंतु, कुमारगुप्त के इस अमितेज को, तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया ! पुरगुप्त !

पुरगुप्त—देव ! अपराध हुआ।—(पैर पकड़ता है)

स्कंद०—भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की, लो आज इस रणभूमि मे मैं पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो।—(रक्त की टीका पुरगुप्त को लगाता है।)

भटार्क—देवव्रत ! अभी आपकी छत्र-छाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं !

स्कंद०—क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो, और कह दो कि, सिंधु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिङ्गिल—आर्य्यसम्राट ! आप की आज्ञा शिरोधार्य्य है।

(जाता है)

उद्यान का एक भाग।

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिये पुकार मचाना क्या तेरे लिये कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भविष्य सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे मैं विदाई लेती हूँ!

आह! वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छलछल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनंत अँगड़ाई।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन विपिन की तरु-छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई?

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी,
मेरी आशा आह! बावली!
तूने खो दी सकल कमाई।

चढ़ कर मेरे जीवन रथ में,
प्रलय चल रहा अपने पथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा हा खाती,
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे
इसने मन की लाज गँवाई।

(स्कंदगुप्त का प्रवेश)

जय हो! देव! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कंद०—मालवेश-कुमारी! क्या आज्ञा है? आज बंधुवर्मा इस आनंद को देखने के लिये नहीं हैं। जननी जन्मभूमि के उद्धार करने की, जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण इस हृदय पर इतना है कि उसका कभी प्रतिशोध नहीं हो सकता, उसी वीर बंधुवर्म्मा की भगिनी मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है?

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कंद०—देवी! यह न कहो, जीवन के शेष दिन, कर्म्म के अवसाद में हम बचे हुए दुखी लोग एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परंतु इस नंदन की वसंत श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी,

तुम चली जाश्रो—(कुछ ठहर कर सोचते हुए)—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ, और किस वज्र-कठोर हृदय से तुम्हे रोकूँ ?

देवसेना ! देवसेना !! तुम जाश्रो ! हतभाग्य स्कदगुप्त, श्रकेला स्कद, श्रोह !

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या श्रग्नि है ! सम्राट ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का श्रत है, जिसमें सुखों का श्रत न हो, इसलिये सुख करना ही नहीं चाहिये ! मेरे इस जीवन के देवता ! श्रौर उस जीवन के प्राप्य !! क्षमा !

(घुटने टेकती है, स्कद उसके सिर पर हाथ रखता है ।)

(यवनिका)

स्वर-लिपि के संकेत-चिन्हों का ब्योरा

१—जिन स्वरों के नीचे बिन्दु हो, वे मद्र सप्तक के, जिनमें कोई बिन्दु न हो वे मध्य सप्तक के, तथा जिनके ऊपर बिन्दु हो वे तार सप्तक के हैं। जैसे—स, स, स।

२—जिन स्वरों के नीचे लकीर हो वे कोमल हैं। जैसे—रे॒, ग॒, ध॒, नि॒। जिनमें कोई चिन्ह न हो वे शुद्ध हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। तीव्र मध्यम के ऊपर खड़ी पाई रहती है—मं।

३—आलङ्कारिक स्वर (गमक) प्रधान स्वर के ऊपर दिया

      ध म

है, यथा—प म प

४—जिस स्वर के आगे बेडी पाई हो '–' उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना जितनी पाइयाँ हों। जैसे, स–, रे––, ग–––,।

५—जिस अक्षर के आगे जितने अवग्रह ऽ हों उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना। जैसे रा ऽ म, सखी ऽऽ, आ ऽऽऽ ज।

६—'‿' इस चिन्ह में जितने स्वर या बोल रहे, वे एक मात्रा काल में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—सरे, गम।

७—जिस स्वर के ऊपर से किसी दूसरे स्वर तक चन्द्राकार लकीर जाय, वहाँ से वहाँ तक मींड समझना। जैसे—

स––म, रे––प, इत्यादि।

स्वर-लिपि के संकेत-चिन्हों का ब्योरा

१—जिन स्वरों के नीचे बिन्दु हो, वे मंद्र सप्तक के, जिनमें कोई बिन्दु न हो वे मध्य सप्तक के, तथा जिनके ऊपर बिन्दु हो वे तार सप्तक के हैं। जैसे—स, स, स।

२—जिन स्वरों के नीचे लकीर हो वे कोमल हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। जिनमें कोई चिन्ह न हो वे शुद्ध हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। तीव्र मध्यम के ऊपर खड़ी पाई रहती है—मं।

३—आलंकारिक स्वर (गमक) प्रधान स्वर के ऊपर दिया

ध म
है, यथा—प म प

४—जिस स्वर के आगे बेंडी पाई हो '–' उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना जितनी पाइयाँ हों। जैसे, स–, रे– –, ग– – –, ।

५—जिस अक्षर के आगे जितने अवग्रह ऽ हों उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना। जैसे रा ऽ म, सखी ऽऽ, आ ऽऽऽ ज।

६—'‿' इस चिन्ह में जितने स्वर या बोल रहें, वे एक मात्रा काल में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—सरे, गम।

७—जिस स्वर के ऊपर से किसी दूसरे स्वर तक चन्द्राकार लकीर जाय, वहाँ से वहाँ तक मींड समझना। जैसे—

८—सम का चिन्ह ×, ताल के लिये अंक और खाली का द्योतक ▫ है। इनका विभाजन खड़ी लम्बी रेखाओं से दिखाया गया है।

९—'ꕥ' यह विश्राति का चिन्ह है। ऐसे जितने चिन्ह हों उतने मात्रा काल तक विश्रान्ति जानना।

(पृष्ठ १५)

विहाग—तीन ताल

स्थायी

			स न
×	२	०	३
प — म॑ ग	म ग ग स	ग — स ग	म प — प
छे ऽ ड ला	ऽ ब स·अ	ती ऽ त स्मृ	ति से ऽ खि
नि — स नि	ध प म॑ प	ग म ग स	नि स — स
चे ऽ हु ए	ऽ बी ऽ न	ला ऽ र को	ऽ किल, क
प प म॑ ग	म ग — स	ग ग स ग	म प — प
रू ण रा ऽ	गि नी ऽ त	ड प उ ठे	ऽ गी ऽ सु
नि — स नि	ध प म॑ प	ग म ग स	नि स —
ना ऽ न ऐ	ऽ सी ऽ पु	का ऽ र को	ऽ किल,

अन्तरा

			प
			ह
×	२	०	३
नि — स —	स स — स	नि — प प	— नि — प
द य धू ऽ	ल में ऽ मि	ला ऽ दिया	ऽ है ऽ, व
प — म ग	म प मं ग	म ग स नि	नि स — स
से ऽ च र	ण चि ऽ न्ह	सा ऽ किया	ऽ है ऽ, लि
प — मं ग	म ग ग स	ग — स ग	म प — प
ले ऽ फू ऽ	ल स ब गि	रा ऽ दिया	ऽ है ऽ, न
नि नि स नि	ध प मं प	ग म ग स	नि स —
अ व ब स	ऽ ती ऽ व	हा ऽ र को	ऽ कि ल,

(पृष्ठ १८)

इमन—तीन ताल

स्थायी

×	२	०	३
	ध नि रे ग	स — स —	नि रे ग रे
	स ऽ स्तु ति	के ऽ वे ऽ	सु ऽ व र
ग ग ग ग	रेग मंप मंप	रे — ग रे	नि रे ग रे
त म स ण	यौंऽ ऽऽ हीऽ	भू ऽ ल न	हीं ऽ ऽ जा ऽ
स — — —	ध नि रे ग	स — स स	नि रे ग रे
ना ऽ ऽ ऽ,	व ह व ऽ	च्छ ऽ ह्न ल	सा ऽ थी ऽ
ग ग ग —	रेग मंप मंप	रे रे ग रे	नि रे ग रे
अ प नी ऽ	कऽ हऽ क र	म न म त	ध ह ला ऽ
स — — —			
ना ऽ ऽ ऽ,			

अन्तरा

×	२	०	३
	ग प ध प	स – स –	नि रें ग रें
	मा ऽ द क	ता ऽ सी ऽ	त र ल हँ
नि रें स –	नि ध प मं	प रे ग रे	नि रे ग रे
सी ऽ के ऽ	प्या ऽ ले ऽ	में ऽ उ ठ	ती ऽ ल ह
स – – –	ध नि रे ग	स – स –	नि रे ग रे
री ऽ ऽ ऽ,	मे ऽ रे ऽ	नि ऽ श्वा ऽ	सो ऽ से ऽ
ग ग ग ग	रेग मंप मंप	रे रे ग रे	नि रे ग रे
उ ठ क र	अऽ धऽ रचू	ऽ म ने ऽ	को ऽ ठ ह
स – – –			
री ऽ ऽ ऽ,			

(पृष्ठ ३६)

झिंझोटी—तीन ताल

स्थायी

	२	०	३
ग	रे स नि ध	प ध स स	रे रे ग म
त	ता ऽ रो ऽ	गे ऽ अ ब	फ य भू ऽ
ग – ग ग म	रेग सरे निध प	ध — स स	रे रे ग म
भा ऽ र, उऽ	ताऽ ऽऽ रोऽ ऽ	गे ऽ अ ब	फ य भू ऽ
ग — ग ग	रे स नि ध	ग — म रे	ग स रे ग
भा ऽ र, उ	ता ऽ रो ऽ,	वा ऽ र वा	ऽ र क्यों ऽ
स स रे ग	म नि ध प	ध – स –	रे – ग म
क ह र ऽ	क्याऽ था ऽ	लूँ ऽ गा ऽ	मैं ऽ अ व
ग — ग			
ता ऽ र,			

अन्तरा

	२	०	३
ग	रे स नि ध,	स स ग म	प – प –
उ	ता ऽ रों ऽ,	उ म ड़ र	हा ऽ है ऽ
×			
ग म प ध	प म ग ग	स स ग म	प म ग रे
इ स भू ऽ	त ल प र	दु ख का ऽ	पा ऽ रा ऽ
स नि ध प	– – – –	ग — म रे	ग स रे ग
वा ऽ ऽ र,	ऽ ऽ ऽ ऽ	वा ऽ ड़ व	ले ऽ लि हा
स स रे ग	म नि ध प	ध ध स –	रे – ग म
ऽ न नि ऽ	व्हा ऽ का ऽ	क र ता ऽ	है ऽ वि ऽ
ग — ग			
स्ता ऽ र,			

(पृष्ठ ४५)

लावनी धुन बनजारा—कहर्वा

स्थायी

			०
		स	म – म –
		भ	रा ऽ नै ऽ
×	२	×	
रे ग ग –	ग म ग स	रे – रे प	प – प प
नों ऽ में ऽ	म न में ऽ	रू ऽ प, कि	सीऽ छ लि
प ध प म	ग रे ग ग	स – स	
या ऽ का ऽ	अ म ल अ	नू ऽ प,	

अन्तरा

×	२	×	२
म म म म	म — — म	प — — प	प — ध —
ज ल थ ल	मा ऽ ऽ रुत	व्योऽ ऽ म	में ऽ जो ऽ
ध — ध —	ध — प म	प — — —	— — — प
छा ऽ या ऽ	है ऽ स ब	ओ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ र
म — म म	— म म म	मप ध — प	म — ग —
सो ऽ ज सो	ऽ ज क र	सोऽऽ ऽ ग	ई ऽ मैं ऽ
म — म म	म — म प	ग — ग म	ग रे स —
पा ऽ ग ल	प्रे ऽ म वि	भो ऽ र, भौं	ऽ ग से ऽ
रे ग — ग	ग — ग स	रे — रे प	प — प —
भ रा ऽ हु	आ ऽ य हृ	कू ऽ प, भ	रा ऽ नै ऽ
म ध प म	ग रे ग ग	स — स	
नों ऽ में ऽ	म न में ऽ	रू ऽ प,	

(पृष्ठ ६७)

मालकोस—तीन ताल

(यह गान नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

	२	०	३
स नि	ग स म ग ध म नि ध	म ग म स	नि स ध नि
पा ऽ	ऽ ऽ ल ऽ ना ऽ ऽ ऽ	ब नें ऽ प्र	ल य की ऽ
×			
स म म			
ल ह रें,			

अन्तरा

					२
					म म –
					छा या ऽ
×	२	×	०	×	
म म –	प – प	प ध नि –	प प —	धि न रें	स – –
है वि ऽ	श्वा ऽ स	की ऽ ऽ ऽ	श्र द्धा ऽ	सरि ता ऽ	कू ऽ ऽ
– – स	ध ध ध	ध ध –	प ध प	म — प	ग ग ग
ऽ ऽ ल,	सिँ ची आँ	सु आँ ऽ	से ऽ मृ	दु ऽ लऽ	है प रा
– म रे ग	स – –	– – स	प ध —	प म ग	स रे ग
ऽ ग म य	धू ऽ ऽ	ऽ ऽ ल,	य हाँ ऽ	कौ ऽ न	जो ऽ छ
स – –					
ले ऽ ऽ,					

(पृष्ठ ६७)

मालकोस—तीन ताल

(यह गान नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

	२	०	३
स नि॒	ग॒ स मं ग॒ ध॒ म नि॒ ध॒	म ग॒ म स	नि॒ स ध॒ नि॒
पा ऽ	ऽ ऽ ल ऽ ना ऽ ऽ ऽ	ब नें ऽ प्र	ल य की ऽ

X
त म म
ी ह रें,

अन्तरा

	२	०	३
सनि	गस मग धम निध	गम धम धनि	स – स –
पाऽ	ऽऽ लऽ नाऽ ऽऽ,	शीऽऽ ऽत ल	हो ऽ ज्वाऽ
×			
नि – नि –	धनि सनि धम	ग म स –	निस धनि
ला ऽ की ऽ	आँऽ ऽऽ धीऽ	क रु णा ऽ	फे ऽ घ न
स म म			
छ ह रें,			

(पृष्ठ ८८)

भीमपलासी–तीन ताल

स्थायी

			३
		रे	नि स ग म
		ह	म इ फ र
×	२	०	
प प – प	ग म प नि ध प म प	ग रे स नि	ध नि ध नि प –
च ली ऽ भि	गो ऽ ऽ ऽ ने ऽ ऽ ऽ	आ ऽ ज, तु	म्हा ऽ ऽ ऽ रा ऽ
म प ग म	ग म प नि प म	ग रे स रे	नि स ग म
नि ऽ श्च ल	अ ऽ ऽ ऽ च ल	छो ऽ र, न	य न ज ग
प – प –	ग म प नि ध प म प	ग रे स नि	ध नि प –
धा ऽ रा ऽ	रे ऽ ऽ ऽ प्र ऽ ति ऽ	कू ऽ ल, दे	ऽ ख ले ऽ
ग म प नि ध प	म प ग म	ग रे म	
तू ऽ ऽ ऽ फिर	फ र इ स	ओ ऽ र,	

अन्तरा

	२	०	३
स नि	ग स म ग ध म नि ध	ग म ध म ध नि	स – स –
पा ऽ	ऽ ऽ ल ऽ ना ऽ ऽ ऽ,	शी ऽ ऽ ऽ त ल	हो ऽ ज्वा ऽ
×			
नि – नि –	ध नि स नि ध म	ग म स –	नि स ध नि
ला ऽ की ऽ	आँ ऽ ऽ ऽ धी ऽ	क रु णा ऽ	के ऽ घ न
स म म			
छ हृ रें,			

(पृष्ठ ८८)

भीमपलासी–तीन ताल

स्थायी

		रे	३ नि स ग म
		व	म इ क र
×	२	०	
प प – प	ग म प नि ध प म प	ग रे स नि	ध नि ध नि प –
च ली ऽ भि	गो ऽ ऽ ऽ ने ऽ ऽ ऽ	आ ऽ ज, तु	म्हा ऽ ऽ ऽ रा ऽ
म प ग म	ग म प नि प म	ग रे स रे	नि स ग म
लि ऽ अ ल	अ ऽ ऽ ऽ च ल	छो ऽ र, न	य न ज ल
प – प –	ग म प नि ध प म प	ग रे स नि	ध नि प –
धा ऽ रा ऽ	रे ऽ ऽ ऽ प्र ऽ ति ऽ	कू ऽ ल, दे	ऽ ख ले ऽ
ग म प नि ध प	म प ग म	ग रे म	
तू ऽ ऽ ऽ फि र	क र इ स	ओ ऽ र,	

अन्तरा

			३
		प	म प ग॒ म
		हृ	द य की ऽ
×	२	०	
प नि॒ प म	प प नि॒ नि॒	स – स प नि॒	स ग॒ रें स –
अ ऽ त र	त म सु स	क्याऽ न क ऽ	ऽ ऽ ल्प ना ऽ
नि॒ नि॒ ध नि॒ ध नि॒	प – म प	ग॒ रे स रे	नि॒ स ग॒ म
म य ते ऽ ऽ ऽ	रा ऽ य हृ	वि ऽ श्व, ला	ऽ लि मा ऽ
प – प प	ग॒ म प नि॒ ध प म	प – प प	ग॒ म म –
में ऽ ल य	होऽ ऽ ऽ लऽ ब	ली ऽ न नि	र ख ते ऽ
नि॒ नि॒ ध नि॒ ध प	म प ग॒ म	ग॒ रे स	
इ न आँऽ ऽ ऽ	खों ऽ की ऽ	को ऽ र,	

(पृष्ठ ६४)

धुन बरवा—तीन ताल

स्थायी

	२	०	३
प प	प — प प	प ध म प	ग म ग म
स ब	जी ऽ व न	बी ऽ ता ऽ	जा ऽ ता ऽ
×			
प — — —	म — म ग	रे ग म प	ग — रे म
है ऽ ऽ ऽ	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ऽ	खे ऽ ल स
स स ग म	प — प प	प ध म प	ग — ग म
ह शा, स ब	जी ऽ व न	बी ऽ ता ऽ	जा ऽ ता ऽ
प — — —	ग — ग रे	— ग म प	ग — रे स
है ऽ ऽ ऽ	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ह	गे ऽ ल स
त स			
ट शा			

अन्तरा

	२	०	३
प प	म प — नि	— नि नि —	नि स नि नि
स ब,	स म य भा	ऽ ग ता ऽ	प्र ति क्ष ण
×			
स — — —	नि॒ नि॒ नि॒ नि॒	— ध प ध	नि॒ स — नि॒
में ऽ ऽ ऽ,	न व भ ती	ऽ त के ऽ	तु पा ऽ र
ध नि॒ प —	प प — प	प — प प	प ध म प
क ण में ऽ,	ह में ऽ ल	गा ऽ क र	भ वि ऽ ष्य
ग म प —	नि॒ — नि॒ नि॒	ध — प ध	म प ग म
र ण में ऽ,	आ ऽ प क	हाँ ऽ छि प	जा ऽ ता ऽ
			म
प — — —	म — म ग॒	रे ग॒ म प	ग॒ — रे स
है ऽ ऽ ऽ,	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ऽ	खे ऽ ल स
स स			
ह रा,			

(पृष्ठ १२०)

देस—पश्तो ताल

स्थायी

×	२	३	×	२	३
स रे रे	म म	प –	नि नि नि	स —	नि ध
भा ऽ व	नि धि	मॅं ऽ	ल ह रि	याँ ऽ	व ठ
प ध म	ग रे	ग स	रे – रे	म म	प –
तीं ऽ त	भी ऽ	ऽ ऽ,	मू ऽ ल	क र	भी ऽ
नि नि नि	स स	नि ध	प ध म	ग रे	ग स
रम ऽ ऽ	र ण	हो ऽ	ता ऽ क	भी ऽ	ऽ ऽ,
रे – रे	म ग	प –			
भा ऽ व	नि धि	में ऽ	(इत्यादि)		

अन्तरा

×	२	०	३
			म ग स रे म प
			माँ ऽ ऽ ऽ की ऽ,
रे रे रे रे	– ग रे ग म	ग रे ग स	रे नि स –
अ ल स नी	ऽ ल की ऽ ऽ	छा ऽ ऽ ऽ	या ऽ में ऽ
रे रे म –	म – प ध	नि नि नि –	ध प ध प
ज ल जा ऽ	लों ऽ की ऽ	छ ल मा ऽ	या ऽ में ऽ
म प नि स	रें रें नि स रें स	नि ध प –	म रे म प
अ प ना ऽ	ब ल तो ऽ ऽ ऽ	लो ऽ गे ऽ,	माँ ऽ मी ऽ
नि – स स	नि स रे नि ध प ध	म ग रे –	
सा ऽ ह स	है ऽ ऽ खे ऽ ऽ ऽ	लो ऽ गे ऽ,	

(पृष्ठ १२०)

देस—परतो ताल

स्थायी

×	२	३	×	२	३
स रे रे	म म	प —	नि नि नि	स —	नि॒ ध
भा ऽ व	नि धि	में ऽ	ल ह रि	यों ऽ	उ ठ
प ध म	ग रे	ग स	रे — रे	म म	प —
तीं ऽ त	भी ऽ	ऽ ऽ,	भू ऽ ल	क र	भी ऽ
नि नि नि	स स	नि॒ ध	प ध म	ग रे	ग म
स्म ऽ ऽ	र ण	हो ऽ	ता ऽ क	भी ऽ	ऽ ऽ,
रे — रे	म ग	प —			
भा ऽ व	नि धि	में ऽ	(इत्यादि)		

अन्तरा

×	२	३	×	२	३
म म म	प प	नि —	स — स	नि स रें	स रें
म धु र	मु र	ली ऽ	फूँ ऽ क	दीऽ ऽ	तु म
नि — ध	प —	— —	रे — रे	म म	प —
ने ऽ भ	ला ऽ	ऽ ऽ,	नीं ऽ द	मु झ	को ऽ
नि — नि	स —	नि ध	प ध म	ग रे	ग स
आऽ च	ली ऽ	थी ऽ	व स अ	भी ऽ	ऽ ऽ,

(पृष्ठ १४०)

भीमपलासी—कहरवा (हक्कानी)

(नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

			२
		रे	नि स ग म
		य	आ ऽ हो ऽ
×	२	×	
प – – प	प ध प ग	म – – ग	रे ग स –
वे ऽ ऽ णु	म न मो ऽ	ह न ऽ ब	आ ऽ हो ऽ
– – – रे	नि स ग म	प – – प	प ध प ग
ऽ ऽ ऽ, ह	मा ऽ रे ऽ	सु ऽ ऽ म	नी ऽ व न
म – मं ग	रे ग स—	– – –	
को ऽ ऽ ज	गा ऽ हो ऽ	ऽ ऽ ऽ,	

अन्तरा

			२
		प	ग म प नि
		वि	म ल स्वा S
X	२	X	
सं – – स	स – स स	नि स – नि	प ध प –
व S S त्र्य	का S व स	म S S त्र	फूँ S को S
– – – रे	नि स ग म	प – – प	प ध प ग
S S S, ह	मे S स व	भी S S त	ब S ध न
म – – ग	रे ग स –	– – –	
सें S S छु	ड़ा S दो S	S S S,	

(पृष्ठ १५७)

सिन्ध भैरवी—कहरवा धीमा

स्थायी

×	२	×	२
प प प प	— ध नि स	ध नि ध प	म प ग रे
गु रु धू	ऽ म की ऽ	श्या ऽ म ल	ह रि याँ ऽ
रे नि —	स रे ग म	रे ग स रे	स — — —
ल मीं ऽ	हाँ ऽ इ न	अ ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,
प प प	प ध नि स	ध नि ध प	स प ग रे
ऽ द क	ता ऽ ला ऽ	ली ऽ के ऽ	डो ऽ रे ऽ
,रे नि नि	से रे ग म	रे ग स रे	स — — —
ध र फँ	से ऽ हों ऽ	प ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,

अन्तरा—पश्तो ताल में

	०	२	×	२	३
म	प —	नि –	नि – नि	नि —	स नि
हृ	द य	तू ऽ	खो ऽ ज	ता ऽ	कि स
×					
स — रें	स रें	स नि़	ध प ध	मप धनि़	ध म
को ऽ छि	पा ऽ	है ऽ	कौ ऽ न	साऽ ऽ ऽ	तु झ
ग रे म	ग रे	स –	रे — म	प —	नि –
में ऽ, म	च ल	ता ऽ	है ऽ ब	ता ऽ	क्या ऽ
स — रें	स रें	स नि़	ध प ध	म ध	म ग
दू ऽ छि	पा ऽ	तु झ	से ऽ न	कु छ	मु झ
रे —					
में ऽ,					

(पृष्ठ १५७)

सिन्ध भैरवी—कहरवा धीमा

स्थायी

X	२	X	२
स प प प	– धु नि स	धु नि नु प	म प गु रे
,अ गु रु धू	ऽ म की ऽ	श्या ऽ म ल	ह रि यॉं ऽ
स रे नि़ –	स रे गु म	रे गु स रे	स – – –
च ल मों ऽ	हों ऽ इ न	अ ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,
स प प ध	प धु नि स	धु नि धु प	स प गु रे
मा ऽ द क	ता ऽ ला ऽ	ली ऽ के ऽ	डो ऽ रे ऽ
स ,रे नि़ नि़	से रे गु म	रे गु स रे	स – – –
इ ध र फँ	से ऽ हों ऽ	प ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,

अन्तरा

×	२	×	२
धु म म म	धु धु नि –	सं – स स	स स स –
व्या ऽ कु ल	बि ज ली ऽ	सी ऽ तु म	म च लो ऽ
नि – नि नि	नि – स स	नि स नि धु	प – – –
आ ऽ ई ह	द य घ न	मा ऽ ला ऽ	से ऽ ऽ ऽ,

(इसके आगे का भाग ऊपर के अनुसार)

(पृष्ठ १६०)

धुन इमन—कहरवा इक़ानी

स्थायी

			२
		प	– प प –
		दे	ऽ श की ऽ
×	२	×	मं
मं प मं ग	रे ग – रे	स – – –	रे ग प –
इ ऽ ऽ ऽ	दे शा ऽ नि	हा ऽ ऽ ऽ	रो ऽ गे ऽ
– – – प	– प प –	मं प मं ग	रे ग – रे
ऽ ऽ ऽ, इ	ऽ व ते ऽ	को ऽ ऽ ऽ	कभी ऽ च
	मं		
स – – –	रे ग प –	– – –	
वा ऽ ऽ ऽ	रो ऽ गे ऽ	ऽ ऽ ऽ,	

अन्तरा

			२
		स	स – रें –
		उ	पा ऽ ते ऽ
×	२	×	
ग गं रें स	ध स ध प	ग ग – रे	– ग प ध
हँ स अभि	न ऽ द न	कि या ऽ औ	ऽ र प हि
स – ध –	प – ग रे	स – स	
रा ऽ या ऽ	ही ऽ र क	हा ऽ र,	

(पृष्ठ १६७)

मिश्र कालिंगड़ा—तीन ताल

स्थायी

×	२	०	३
	धु – प धु	म प ग म	ग रे स रे
	आ S ह वे	S द ना S	मि ली S वि
ग – म –	ग – म –	ग रे स स	निस रेग मप
दा S ई S,	मैं S ने S	भ्र म व श	जीS SS वन
रे – स स	नि स ग म	प धु नि स	धु स नि धु
स S चि त	म धु क रि	यों S की S	भी S ख लु
प म ग म			
टा S ई S,			

अन्तरा

	२	०	३
	ग म प प	ध – ध –	सं – सं –
	छ ल छ ल	थे ऽ स ऽ	ध्या ऽ के ऽ
×			
स रे नि स	स – रें –	ग – म म	रे म ग रे
श्र म क ण,	आ ऽ सू ऽ	से ऽ गि र	ते ऽ थे ऽ
स रे स स	ध – प –	म – ग –	म म ग म
प्र ति क्ष ण,	मे ऽ री ऽ	या ऽ आ ऽ	प र ले ऽ
ग रें स –	नि स ग म	प ध नि स	ध स नि ध
ती ऽ थी ऽ,	नी ऽ र व	ता ऽ अ न	ऽ त आँ ग
प म ग म			
ड़ा ऽ ई ऽ,			

मगध का गुप्त राजवंश

(१) श्रीगुप्त—(ई० २७५-३००)

(२) घटोत्कच गुप्त—(ई० ३००-३२०)

(३) चद्रगुप्त—(ई० ३२०-३३५)

(४) समुद्रगुप्त—(ई० ३३५-३८५)

(५) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८५-४१३)

(६) कुमारगुप्त महेंद्रादित्य (ई० ४१३-४५५)

(१) कोइ इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते हैं, श्री सम्मान-सूचक है।

(२) इस नाम के साथ 'गुप्त'-शब्द नहीं मिलता।

(३) यही पहला स्वतंत्र गुप्तवंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छिवियों के यहाँ इसका ब्याह हुआ।

(४) गुप्तवंश का परम प्रतापी भारत विजेता सम्राट। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया।

(५) पाटलीपुत्र का विक्रमादित्य। दक्षिण भारत के (पैठन) के शकों को निर्मूल किया।

(६) मालव विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता महेंद्रादित्य।

स्कंदगुप्त

(७) स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ई० ४५५-४६७)

(८) पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई० ४६७-४६९)

(९) नरसिंहगुप्त बालादित्य (ई० ४६९-४७३)

(१०) (द्वितीय) कुमारगुप्त क्रमादित्य ? (ई० ४७३-४७७)

(७) उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य।—महान वीर। इसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त' अंकित है।

(८) इसके सोने के सिक्कों पर 'श्री विक्रम' भी मिलता है। परन्तु प्रकाशादित्य नाम वाले सिक्के भी इसी के हैं, जिन्हें उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के शासन काल में मगध में इसने स्वतंत्र रूप से ढलवाये, फिर स्कंदगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि 'श्री विक्रम' भी ग्रहण कर ली हो।

(९) यह प्रथम बालादित्य है, जिसे राजतरंगिणीकार ने विक्रमादित्य का भाई भ्रम से लिखा है। और यह यशोधर्म्म का भी समकालीन नहीं था।

(१०) कई विद्वान कुमारगुप्त को स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, भिटारी के सील से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारगुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमारगुप्त और भिटारी के सील का कुमार एक ही व्यक्ति है, जिसका उत्तरा-

(११) बुधगुप्त परादित्य ? (ई० ४७७-४९४)

|

(१२) तथागतगुप्त परमादित्य ? (ई० ४९४-५१०)

|

(१३) भानुगुप्त बालादित्य (ई० ५१० ५३४)

|

(१४) वज्रगुप्त प्रकटादित्य (ई० ५३४-५४०?)

हुआ। मदसौर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (४९३ वि०) में बन्धुवर्म्मा का राज्य मालव पर था, उस ४३६ ई० में कुमारगुप्त प्रथम का राज्य था। और उसी शिलालेख में जो ५२९ वि० का उल्लेख है, वह उस मंदिर के जीर्णोद्धार का है—'संस्कारितमिदभूय श्रेण्या भानुमतो गृहं'—से यह स्पष्ट है।

(११) इसके समय में मगध साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए। इसका राज्य केवल मगध, अङ्ग, और काशी तक ही रह गया था।

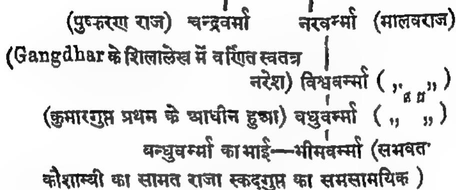
(१२) जोहन फ्लीट के मतानुसार यहाँ घटोत्कच का नाम होना चाहिये। परन्तु हेन्त्सांग ने लिखा है कि यशोधर्म्म के साथ मिहरकुल को हराने वाला बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था, इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागतगुप्त ही मानने को बाध्य होते हैं।

(१३) जब हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म्मदेव ने किया उसी समय मगध को इसी बालादित्य ने बचाया। इसी की ओर से एरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया। सारनाथ में इसी का लेख मिला है—'तदश सम्भवोन्यो बालादित्यो नृपः प्रोत्य प्रकटादित्य।' No 79 Plate XYIIIC

(१४) प्रकटादित्य वज्रगुप्त का उपाधि है। इसी वज्रगुप्त के समय में मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया, तबसे गुप्तवंश का प्राधान्य लोप हुआ।

मालव राजवंश

(समुद्रगुप्त का समकालीन) सिंहवर्म्मा





विक्रमादित्य

जिसके नाम से विक्रमी संवत् का प्रचार है, भारत के आबाल-वृद्ध-परिचित उस प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते। इसके कई कारण हैं। उसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमी संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। स्वयं मालव में अति प्राचीन काल से एक मालव-संवत् का प्रचार था, जैसे—'मालवानागणस्थित्या याते शतचतुष्टये'—इत्यादि। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि गुप्तवंशी प्रतापी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसी ने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव-संवत् के साथ अपनी 'विक्रम'-उपाधि जोड़ कर विक्रमी संवत् का प्रचार किया।

परन्तु यह मत निस्सार है। क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चन्द्रगुप्त था, पर, उपाधि विक्रमादित्य थी, उसने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिये आवश्यक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शकारि होने पर हम आगे चल कर विवेचन करेंगे। पर चन्द्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलीपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में गुप्त संवत् व्यवहृत है तब वह दो संवतों के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी, नाम नहीं था। इन्हीं के लिये कथा सरित्सागर में लिखा है—"विक्रमादित्य इत्यासीद्राजापाटलिपुत्रके"। सिकन्दरसानी और आलमगीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी

उपाधि होती है उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ३८५–४१३ ई० तक माना जाता है। तब यह भी मानना पड़ेगा कि ३८० के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख्तेवाही का शिलालेख जो गोण्डोफोरस का है, उसका काल १०३ है, तत्कालीन ईसाई कथाओं के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है उससे वह विक्रमी संवत ही ठहरता है। तब यह भी स्थिर हो जाता है उस प्राचीन काल में शक-संवत के अतिरिक्त एक संवत का प्रचार था और वह विक्रमी था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव'-शब्द का प्रयोग करते थे।

चन्द्रगुप्त का शक-विजय

गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र के पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित किया जो शक थे, इस लिये यही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसी के सिक्के नहीं मिलते। इसलिये यह माना जाता है कि इसी चन्द्रगुप्त ने रुद्रसिंह को पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर, बात कुछ दूसरी है। चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक नाम रुद्रदेव भी है। संभवत यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का शक क्षत्रप था। तब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चन्द्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चन्द्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और

यमुना के पश्चिमी तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा में राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया, तात्पर्य, कुछ लोगों से उपहार लिया, कुछ लोगों को उनके राज्यों पर बिठला दिया, कुछ लोगों से नियमित कर लिया, इत्यादि। चन्द्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था। वस्तुत ये सब शासन में स्वतन्त्र थे। तब कैसे मान लिया जाय कि सौराष्ट्र और मालव में शकों को चन्द्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चन्द्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता। गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, भारत के प्रधान सम्राट वे माने जाने लगे। पर, स्वयं चन्द्रगुप्त का समकालीन नरवर्मा (Gangdher के शिलालेख में) स्वतन्त्र नरेश और वह भी मालव का माना जाता है। फिर मालव चक्रवर्ती उज्जयिनी नाथ विक्रमादित्य और सम्राट चन्द्रगुप्त जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त का समय ४१३ ई० तक है। इधर मन्दसोर वाले ४२४ ई० के शिलालेख में विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्म्मा स्वतन्त्र मालवेश हैं। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त-राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता, जैसा कि पिछले शिलालेख में (जो ४३७ ई० का है) कुमारगुप्त का उल्लेख है—"चतुस्समुद्रान्त-स्फुटपुष्पहासिनीं, कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति।" इससे यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनी-नाथ नहीं थे। उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी, तब उनके पहले एक विक्रमादित्य ३८५ से पूर्व हुए थे।

हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। गाथा सप्तशती एक प्राचीन गाथाओं का संग्रह हाल भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवी-सन् की पहली शताब्दी है। महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसाद ने अभिनद के रामचरित से—

"हालेनोत्तम पूजयाकवि वृष श्री पालितो लालित
ख्यातिकामपि कालिदास कवयो नीताशकारातिना"

उद्धृत करके माना है कि श्री पालित ने अपने राजा हाल के लिये यह 'गाथा सप्तशती' बनाई। इस में एक गाथा पाँचवें शतक की है—

"संवाहण सुहरस तोसिण्ण देन्तेह तुहकरे लक्खम्
चलणेग विक्कमादित्त चरित्र अणु सिक्खिअतिस्सा" ॥६४॥

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने का यह एक प्रमाण है। जैन ग्रंथ कालिकाचार्य कथा में उज्जयिनी नाथ विक्रम का मध्य भारत के शकों को परास्त करना लिखा है। 'प्रबंध कोष' में लिखा है कि महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य हुए। भारत की परंपरागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गंधर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के ३६ राजकुल का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअर वंश पाण्डव वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत्-प्रचारक विक्रम और अनंगपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' में दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कमायूँ के

पहाड़ी राजा शुकवत ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मार कर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी मे शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसी के लगभग घुसे।

Branches of the barbarian stream which penitrated the Indian passes, deposited settlements at Taxila in the Punjab and Mathura on the Jamuna

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after christ pushed on southwards and occupied the penensula of Sourashtra or Kathiawar founding a 'Saka' dynasty which lasted until it was destroyed by Chandragupta Vikramaditya about A, D 390

The satraps of mathura were closely counected wite those of Taxila and belong to the same period about 50 B C or later"

पिछली शकशाखा जो सौराष्ट्र गई, उसके संबंध में यह कहा जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया, पर, वास्तव में ३८५ ईसवी तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय में ३८२ ई० तक के शक सिक्के मिलते हैं, बाद के सिक्के बिना संवत के हैं। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहाँ प्रचलित हुए। तात्पर्य्य, उक्त समुद्र गुप्त के समय ३८५ तक ही सौराष्ट्र की शक शाखा का ह्रास हुआ। चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ३८० ई० मानते हैं। परन्तु उसका सब से पहला शिलालेख—

उदय गिरि का गुप्त-संवत् ८२ (ई० ४०१) का मिलता है। सौ-राष्ट्र के सिक्के जो चंद्रगुप्त के माने जाते हैं वे गुप्त संवत् ९० (ई० ४०९) के हैं—इसके पहले के नहीं। शक-क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय (३११) ई० ३८९ है। अच्छा, इन सिक्कों के बाद ३८९ से लेकर ४०९ ई०-(२० वर्ष)-तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चंद्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौ-राष्ट्र-विजय ४०९ ई० से पहले का नहीं हो सकता, (जब के उसके सिक्के हैं)। फिर इधर उदयगिरि वाला लेख भी ई० ४०१ के पहले का नहीं है। तब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ४०० ई० के समीप होगा। परन्तु ३८९ ई० तक के शक क्षत्रपों के सिक्कों के मिलने के कारण चंद्रगुप्त को ही शकारि विक्रमादित्य प्रमाणित करने के लिये चंद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ३८५ या ३८० अनुमान किया जाता है, जिसमें सौराष्ट्र विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव में समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा परा-जित राजाओं की नामावली मे रुद्रदेव का भी उल्लेख है और यह रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों में रहा होगा। चंद्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसा कि उनके उदयगिरि वाले शिलालेख से प्रकट है। परन्तु उनके शासन-काल में मालव स्वतंत्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौ-राष्ट्र स्वतंत्र राष्ट्र गिने जाते थे। Gangdhar और मंदसोर के दोनों शिलालेखों को देखने से सूचित होता है कि नरवर्म्मा और

विश्ववर्म्मा मालव के स्वतन्त्र नरेश थे। कुमारगुप्त के समय में बंधुवर्म्मा ने संभवत ४२४—४३७ ई० के बीच में गुप्त-साम्राज्य के आधीन होना स्वीकार किया।

चन्द्रगुप्त की शक विजय का उल्लेख बाण भट्ट ने भी किया है—"अरिपुरे परकलत्रकामुक कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्त शकनरपतिं अशातयत्।" यह शक विजय किस प्रांत में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नहीं, परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से ४०० ई० के समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चन्द्रगुप्त ने किया। जब आंध्र राजाओं से लड-झगड कर वे शक क्षत्रप स्वतंत्र हो गये थे और चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतंत्र शकों को पराजित करने के लिये जिस उपाय का अवलंबन किया था, उसका उल्लेख "कथा-सरित्सागर" के चौथे तरंग से भी प्रकट है।

मथुरा के शक-शासक जो शकों की पहिली शाखा के थे, उनका नाश किसने किया—इस संबंध में इतिहास चुप है। 'राजुबुल पोडाश' और 'खरओष्ट'—नाम के तीन शक नरेशों का ई० के पूर्व पहिली शताब्दी में मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। पोडाश ने आर्य्य शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीन कर, शक राज्य प्रतिष्ठित किया था। राजावली में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवत से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवत संभवत विदेशी पोडाश का ही विकृत नाम है, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद, उन शकों का उस प्रांत में शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों

को पराजित करने वाला वही विक्रमादित्य हो सकता है, जो ईसवी पूर्व पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास में भट्टियों का वर्णन यहाँ बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत् ७२ में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य एशिया की क्रांतियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शालिवाहनपुर (शालपुर या शाकल) नाम की राजधानी बसाई। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का समय ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता यही शालिवाहन था। जिसके संबंध में 'भविष्य पुराण' में लिखा है—

> एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहन भूपति
> विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्य गृहीतवान् ॥

कुछ लोग 'पौत्रस्य' अशुद्ध पाठ के द्वारा भ्रांत अर्थ निकालते हैं, जो असंबद्ध है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करने वाला शालिवाहन विदेशी था। 'प्रबन्ध-चिंतामणि' में भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन शक था। संभवतः उसी ने शकराज्य की स्थापना की, और शक-संवत् का प्रचार किया। इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की बात कही जाती है, वह पार्थिया नरेश मिथ्रोडटस का पुत्र फराटस द्वितीय रहा होगा।

उस काल में युचेची, पार्थियन, और शकों में भयानक संघर्ष

चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर रावी और चनाब के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथ्रोडोटस द्वितीय आदि के शासन-काल में भारतवर्ष का उत्तर पश्चिमीय भू-भाग बहुत दिनों तक इन्हीं शकों के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक, और कभी युवेची जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय में मालवों को पराजित करके शकों ने पजाब में अपने राज्य की स्थापना की। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहाँ उस राष्ट्र का सबध है जो 'पाणिनि' के समय में मालव-क्षुद्रक-गण कहे जाते थे, और सिकदर के समय में वे 'malloi And azodrakai' के नाम से अभिहित थे। इस प्राचीन मालव की सीमा पजाब मे थी। विक्रमादित्य और शकों का प्रथम कहरूर युद्ध मुलतान से ५० मील दक्षिण-पूर्व में हुआ, और फिर, शालिवाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। सभवत वर्तमान मालव देश उसी काल में मिलाया गया, और जहा पर इन मालवों ने शकों से पराजित होकर अपनी नई राजधानी बनाई, वह मदसोर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन के इस विजय के बाद, इसी के वश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये, और वे पश्चिमीय क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चष्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयती ले गये। नहपान को कुन्तलेश्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शकों की सत्ता सातकर्णि ने उठा दी,

और कालाप व्याकरण के प्रवर्त्तक शर्ववर्म्मा को वहाँ का राज्य दिया। शालिवाहन के सेनापतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया, और उत्तरीय भारत में आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे। इस लिये उज्जयिनी में वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक-क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ़ किया, और नवीन मालव—जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं—शीघ्र स्वतन्त्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत् का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य—गंधर्वसेन का पुत्र—मालव गण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरा वाली शक-शाखा का नाश किया, और दिल्ली का उद्धार करके जैतपाल को वहाँ का राज्य दिया।

सं० १६९९ अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की एक प्राचीन प्रति से जो पं० केशव प्रसाद जी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है—

(१) "आर्ये रसभाव विशेष दीक्षा गुरो श्री विक्रमादित्य साहसाङ्कस्याभिरूप भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तल नाम्ना नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि।"

(२) "भवतु तवविडौजा प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि वितत यज्ञो वज्रिणं भावयेथा
गण शत परिवर्त्तै रेवं मन्योन्य कृत्यै
र्नियत मुभय लोकानुग्रहश्लाघनीयैः"

इसमें रेखा किये हुए दोनों शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकली हैं। पहिली यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुंतल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और साहसाङ्क उसकी उपाधि है। दूसरे भरत-वाक्य में 'गण'-शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिये यज्ञ और गण राष्ट्र—दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट जैसा कोई संबोधन विक्रमादित्य के लिये नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं, हो सकता है कि इसी के एकाधिपत्य से मालव गण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक आक्रमण में वे पराजित किये गये हों।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था। वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था। उसने स्त्री-वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर, पश्चिमी मालव और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्मा और विश्ववर्म्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतंत्र नरपति सौराष्ट्र के शकों का नाम मिलता है। इसके लेख आकर उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते हैं। जैसा विक्रमादित्य का चरित है, उसके विरुद्ध इसके संबंध में कुछ गाथायें मिलती हैं। अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर और किसी शक-नरपति को मार कर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी। यह असली

विक्रमादित्य के बराबर अपने को समझता था। सभवत. पैठन (दक्षिण का प्रतिष्ठान) के किसी शक-राजा का उसने सहार किया था। 'कथा सरित्सागर' और 'हर्ष चरित' से लिये गये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय स्त्री के द्वारा छल मे मिली थी। तुखार या (शिवप्रसाद के मतानुसार पवाँर) मालव गण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटलिपुत्रका विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त था, जिसका समय ३८५ (४०० ?) से प्रारभ होकर ४१३ ईसवी तक था।

कुछ लोगों का मत है कि मालव का यशोधर्म्मदेव तीसरा विक्रमादित्य था, परतु, जिस "राज तरगिणी" से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है उसमें यशोधर्म्म के साथ 'विक्रम'-शब्द का कोई उल्लेख नहीं है। उसके शिलालेखों, सिक्कों में भी इसका नाम नहीं है। यशोधर्म्म के जयस्तभ में हूण मिहिर कुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परंतु, यह शकारि नहीं था। यह अनुमान भी भ्रांत है कि इसी यशोधर्म्मदेव ने मालव-सवत् के साथ 'विक्रम' नाम जोड़ कर विक्रम-सवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसी के अनुचरों के शिलालेख में मालव गणस्थित का स्पष्ट उल्लेख है—

"पचसु शतेषु शरदा यातेष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु॥"

अलबेरूनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परतु, वही अपनी पुस्तक में दूसरी जगह करूर-युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से सवत् प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मान कर अपनी भूल

स्वीकार करता है। डाक्टर हार्नली और स्मिथ कहरूर-युद्ध के समय में मतभेद रखते हैं। हार्नली उसे ५४४ में और स्मिथ ५२८ ई० में मानते हैं। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धों की रंग-स्थली है, जैसा कि पिछले काल मे पानीपत। शक और हूणों के आक्रमण-काल मे प्रथम विक्रमादित्य, स्कदगुप्त और यशोधर्म्म ने वहीं विजय प्राप्त की। अलबेरूनी ने पिछले ही युद्ध का विवरण सुन कर अपने को भ्रम में डाल लिया। जिन लोगों ने यशोधर्म्म-देव को 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे 'राज-तरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में लेते हैं—× × × "उज्जयिन्या श्रीमान हर्षापराभिध, एकच्छत्र-श्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत।" इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डाल कर असभावित अर्थ किया जाता है, पर, हर्ष विक्रमादित्य से यशोधर्म्म का क्या सबध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष विक्रमादित्य के लिये कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया, परतु, इतिहास मे ५ वीं और ६ वीं शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा का उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनों के बाद ईसवी सन् ९७० के समीप मालव मे श्री हर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। 'राज-तरंगिणी' के अनुसार उक्त हर्ष विक्रमादित्य का काल वही है, जब काश्मीर मे गान्धार वश का तोरमान युवराज था। तोरमान के शिलालेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके पिता तुन्जीन या प्रवरसेन का समकालीन स्कदगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य है कि 'राज-

तरंगिणी' में हर्ष का उल्लेख लेखक के प्रमाद से हो गया हो, और शुद्ध पाठ "श्रीमान् स्कंदापराभिध" हो। क्योंकि, इसी तोरमान ने ५०० ई० में गुप्तवंशियों से मालव ले लिया था, तब मातृगुप्त वाली घटना ५०० ई० के पहिले की है। जो लोग यशोधर्म्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि मिहिर कुल को पराजित करने में यशोधर्म्म और नरसिंहगुप्त बालादित्य—दोनों का हाथ था। परन्तु, यह भी भ्रम है। नरसिंहगुप्त ५२८ या ५४४ ई० तक जीवित ही न थे। यशोधर्म्म का समकालीन बालादित्य द्वितीय हो सकता है, जो हमारे दिये हुए वंशवृक्ष के देखने से स्पष्ट हो जायगा।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्मदेव कल्कि थे। (जीवानंद-संस्करण) 'कल्कि पुराण' में लिखा है—

प्रसीद जगतानाथ धर्मवर्म्मन रमापते ॥ ३ अध्याय ॥
मुने किमत्र कथन कल्किना धर्मवर्मणा ॥ ४ अध्याय ॥

तब उसी 'राज-तरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है कि यशोधर्म्म देव से पहिले विक्रमादित्य हुए थे—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधा हरेरवतरिष्यत ।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्यं भारो लघूकृत ॥ ३ तरंग ॥

भावी कल्कि यशोधर्म्म के कार्यभार को लघु कर देने वाले विक्रमादित्य उनसे ६० ही वर्ष पहले हुए थे, और वह थे श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त। इस तरह 'राज-तरंगिणी' के "श्रीमान्

हर्षापराभिध " के शुद्ध पाठ "श्रीमान् स्कन्दापराभिध " की सगति भी लग जाती है।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कदगुप्त के सम्बन्ध मे 'कथा-सरित्सागर' का विषमशील लम्बक सविस्तर वर्णन करता है। उज्जयिनी-नाथ (महेन्द्रादित्य) का पुत्र यह विक्रमादित्य 'म्लेच्छाक्राते च भूलोके' उत्पन्न हुआ, और इसने—

"मध्यदेश स सौराष्ट्र स वङ्गाङ्गा च पूर्व दिक्
सकश्मीरान्स कौवेरी काष्ठश्च करदी कृता
म्लेच्छसघाश्च निहता शेषाश्च स्थापिता वशे"

इतिहास मे सम्राट कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य प्रसिद्ध है। इनके चाँदी के सिक्कों पर "परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य "—स्पष्ट लिखा मिलता है। इसी के समय मे मालव के स्वतत्र नरेश विश्ववर्म्मा के पुत्र बधुवर्म्मा ने अधीनता स्वीकार की। विक्रमाब्द ४८० तक Gangdhar के शिलालेख द्वारा मालव का स्वतत्र रहना प्रमाणित है, परन्तु, ५२९ विक्रमाब्द वाले मदसोर के शिलालेख में ४९३ वि० में कुमारगुप्त की सारभौम सत्ता मान ली गई। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल मे मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। चद्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्मा और विश्ववर्म्मा मालव के स्वतत्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निकटवर्ती पुष्यमित्रों ने जब गुप्त-साम्राज्य मे युद्ध प्रारभ किया था, तभी कुमार स्कदगुप्त के नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार किया। इन्हीं स्कदगुप्त का सिक्कों में

"परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त" के नाम से उल्लेख मिलता है। इनके शिलालेख से प्रगट है कि कुल-लक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छों से, हूणों से आर्य्यावर्त्त आक्रांत था। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये इन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं। हूणों के युद्ध में—जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई, जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहां का शासक नियत किया, जूनागढ वाले लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि वह स्कंदगुप्त ही थे। स्कंदगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है—

"अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोऽप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छ देशेषु।"

पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने 'सुदर्शन झील' का संस्कार कराया था, उससे अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवी सन् ४५७ के क़रीब हुई थी। स्कंदगुप्त को सौराष्ट्र के शकों से और तोरमाण के पूर्ववर्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमात्रिक भाई पुरगुप्त से आंतरिक द्वंद्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिये प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर एक केन्द्रस्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इस लिये वर्तमान मालव की मौर्य्यकाल की अवंतीनगरी को ही स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य का केंद्र बनाया, और शक तथा हूणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूण तथा शकों का राज्य निर्मूल कर स्कंदगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

'विक्रमादित्य'—उपाधि के लिये शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य्य था। पिछले काल में इसी लिये विक्रमादित्य का एक पर्य्याय शकारि भी प्रचलित था, और स्कंदगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना—चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है। परन्तु, यशोधर्म्म के समय में शकों का राज्य कहीं नहीं था, यही बात 'राजतरंगिणी' के—"शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्य भारो लघूकृत" से भी ध्वनित होती है। मंदसोर वाले जयस्तंभ में यशोधर्म्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है। हूणों के विजय का है। मंदसोर के यशोधर्म्म के विजय स्तम्भ का भी वही समय है जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का है। गोविंद की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियाँ हैं, उसका समय ५३२ ई० का है। मिहरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त जयस्तंभ से प्रतीत होती है। मिहरकुल ५३२ के पहले पराजित हो चुका था, तब वह कौन युद्ध ५४४ में हुआ, यह नहीं कहा जाता, जिसके द्वारा यशोधर्म्म के विक्रम होने की घोषणा की जाती है। इसी से हार्नली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म्म द्वारा मिहरकुल के पराजित होने का काल ५२८ ई० माना है, परन्तु, वह इस युद्ध को 'कहरूर युद्ध' कह कर सम्बोधन नहीं करते। कहरूर युद्ध ५४४ में नहीं हुआ, जैसा कि फर्गुसन कीलहार्न और हार्नली आदि का मत है। प्रत्युत पहले, बहुत पहले, ४५७ ई० के समीप, दूसरी बार हो चुका है। सम्भवत सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गाधारके हूण तुञ्जीन की सम्मिलित वाहिनी को कहरूर युद्ध में पराजित

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा संबंध है कि एक का समय निर्धारण करने में, दूसरे की चर्चा, आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि ५७ ईसवी पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए, और दूसरे विक्रमादित्य का समय ३८५ (४०० ?) ईसवी से ४१३ ईसवी तक है। इनका सपूर्ण नाम श्री चद्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट थे। सभवत, इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई थी। गुप्त राज्यवश के अत कलह का निवारण करने के लिये, और हूण तथा शकों से प्राय मुठभेड़ रहने के कारण, इन्हे मगध और कोशल छोड़ना पड़ा।

कालिदास के सबध में भी राजशेखर का एक श्लोक—जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली और हरि कवि की सुभाषितावली में मिलता है—

> एकोपि जीयते हन्त कालिदासोनकेनचित्
> श्रृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु।

एकादश शताब्दी मे उत्पन्न हुए राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परन्तु, वर्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास—दो तो अवश्य हुए हैं। एक 'रघुवश', 'शाकुतल'—आदि के कर्त्ता, और दूसरे, 'नलोदय' तथा 'पुष्पवाण-विलास-' आदि के रच-

यिता। यह विभाग साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से किया गया है। 'शृगार-तिलक'-जैसे साधारण ग्रथों को महाकवि कालिदास की कृति वे लोग मानना नहीं चाहते, इस लिये एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिये, कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुतल' और 'रघुवश' के कर्त्ता, चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में हुए। इनका मत है कि, 'आसमुद्रक्षितीशाना," "इन्दुनवोत्थानमिवेन्दुमत्यै", "ज्योतिष्मतीचन्द्रमसैव रात्रि",—इत्यादि स्थानों में, इन्दु और चन्द्र शब्दों से समुद्रगुप्त के वशधर चद्रगुप्त द्वितीय की ओर—कालिदास का सकेत है। और, इस लिये महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट चद्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इधर पराञ्जपे आदि विद्वानो का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में शुङ्गों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है, जैसा कि उस काल मे बहुत ही थोड़े समय पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को ५७ ई० पूर्व का मानते हैं, और भी कई विद्वान इस मत के समर्थक हैं।

काव्यों में ज्योतिष-सबधी जामित्र और होरा आदि ज्योतिष-शास्त्र-सबधी शब्दों को देख कर कुछ लोगो का अनुमान है कि 'रघुवश'-आदि के रचयिता कालिदास छठवीं शताब्दी में रहे होंगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रथ को भी, ज्योतिष-सबधी गणनाओं के अनुसार अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रन्थ भी छठवीं शताब्दी का है, इसलिये, इन

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा संबध है कि एक का समय निर्धारण करने में, दूसरे की चर्चा, आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि ५७ ईसवी पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए, और दूसरे विक्रमादित्य का समय ३८५ (४०० ?) ईसवी से ४१३ ईसवी तक है। इनका संपूर्ण नाम श्री चद्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट थे। संभवत, इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई थी। गुप्त राज्यवश के अंत कलह का निवारण करने के लिये, और हूण तथा शकों से प्राय मुठभेड रहने के कारण, इन्हे मगध और कोशल छोड़ना पडा।

कालिदास के सबध में भी राजशेखर का एक श्लोक—जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली और हरि कवि की सुभाषितावली में मिलता है—

> एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासोनकेनचित्
> शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु।

एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुए राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परन्तु, वर्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास—दो तो अवश्य हुए हैं। एक 'रघुवश', 'शाकुतल'—आदि के कर्त्ता, और दूसरे, 'नलोदय' तथा 'पुष्पवाण-विलास-' आदि के रच-

यिता। यह विभाग साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से किया गया है। 'शृंगार-तिलक'-जैसे साधारण ग्रंथों को महाकवि कालिदास की कृति वे लोग मानना नहीं चाहते, इस लिये एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिये, कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुंतल' और 'रघुवंश' के कर्त्ता, चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में हुए। इनका मत है कि, "आसमुद्रक्षितीशाना," "इन्दुनवोत्थानमिवेन्दुमत्यै", "ज्योतिष्मतीचन्द्रमसैव रात्रि",—इत्यादि स्थानों में, इन्दु और चन्द्र शब्दों से समुद्रगुप्त के वंशधर चंद्रगुप्त द्वितीय की ओर—कालिदास का संकेत है। और, इस लिये महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इधर पराञ्जपे आदि विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में शुङ्गों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है, जैसा कि उस काल में बहुत ही थोड़े समय पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को ५७ ई० पूर्व का मानते हैं, और भी कई विद्वान इस मत के समर्थक हैं।

काव्यों में ज्योतिष-संबंधी जामित्र और होरा आदि ज्योतिष-शास्त्र-संबंधी शब्दों को देख कर कुछ लोगों का अनुमान है कि 'रघुवंश' आदि के रचयिता कालिदास छठवीं शताब्दी में रहे होंगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ को भी, ज्योतिष-संबंधी गणनाओं के अनुसार अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रन्थ भी छठवीं शताब्दी का है, इसलिये, इन

ग्रन्थों के रचयिता कालिदास छठवीं शताब्दी मे उत्पन्न हुए और वे यशोधर्म्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के सबध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(१) ५७ ई० पूर्व में मालव के कालिदास हुए।

(२) ईसा के चौथे शतक में चद्रगुप्त द्वितीय मगधनरेश के समकालीन कालिदास हुए।

(३) यशोधर्म्मदेव मालव नरेश के सभासद थे।

'शृगार-तिलक'-आदि ग्रन्थों के कर्त्ता कालिदास को प्राय सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का—सभवत नवम या दशम शताब्दी का मानते हैं। हम महाकवि कालिदास के सबध मे ही विवेचन किया चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इस लिये नहीं मानते कि, उनका कहीं ऐतिहासिक उल्लेख उन लोगो को नहीं मिला, और, विक्रम सवत् प्राचीन शिलालेखो मे मालवगण के नाम से प्रचलित है। परतु, ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव मे ५७ ईसवी-पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न मानने वाले विद्वानो ने विक्रमादित्य को 'चद्रगुप्त द्वितीय' कह कर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवश' में जो सकेत मे गुप्तवशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी सगति इस प्रकार लगाई गई। परन्तु, आश्चर्य की बात है कि, चद्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिये जो अवतरण दिये गये हैं, उनमे चद्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख नहीं है, हाँ कुमारगुप्त और स्कदगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब

संकेत भी गुप्तवंशियों के ही संबंध में मान लिये जाँय, तो यह समझ में नहीं आता कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि ने भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया, जब कि गुप्तवंश में उत्तराधिकार-नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो। समुद्रगुप्त केवल अपनी योग्यता से ही युवराज हुए, और चंद्रगुप्त भी, तब 'रघुवंश' में कुमार और उनके बाद स्कंदगुप्त का वर्णन कैसे आया? चंद्रगुप्त के समय गुप्त-साम्राज्य अपने यौवन पर था, फिर अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखा कर 'रघुवंश' का अंत करना, चंद्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास कैसे लिख सकते हैं। वास्तव में, 'रघुवंश' की-सी दशा गुप्तवंश की हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी, विलासी और हीन-वैभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि, गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था और तब 'रघुवंश' की रचना की थी।

ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के कालिदास के लिये भी उधर प्रमाण मिलते हैं। इस लिये यह समस्या उलझती जा रही है, और इसका मूल कारण है—एक ही कालिदास को काव्य और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। मेरी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाट्यकार कालिदास भिन्न भिन्न थे, और 'नलोदय' आदि के कर्त्ता कालिदास अंतिम और तीसरे थे। इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है और सब पक्षों के प्रमाणों की संगति भी लग जाती है—यद्यपि, 'शकुंतला' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत

चीन है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रन्थ-रत्नों का कर्ता एक लिदास को न मानने से श्रद्धा बँट जाने का भय इसमें बाधक । परतु, पक्षपात और रूढि को छोड़कर विचार करने से यह त ठीक ही जँचेगी। हम ऊपर कह आये हैं कि, कालिदास न हुए, परतु, जो लोग दो ही मानते हैं, वेही बता सकते हैं कि, थम कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम टक और काव्य—सब बना डाला, अब वह कौन सी बची ई कृति है—जिस पर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि ली ? क्योंकि, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि, तरे कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उसका नाम लिदास था। जैसी प्राय अब भी किसी वर्तमान कवि को सकी शैली और उत्तमता देख कर, किसी प्राचीन उत्तम कवि के म से सबोधित करने की प्रथा-सी है। अस्तु। हम नाटककार लिदास को प्रथम और ईसवी-पूर्व का कालिदास मानते हैं।

(१) नाटककार कालिदास ने गुप्तवशीय किसी राजा का केत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

(२) 'रघुवश' आदि में असुरों के उत्पात और उनसे वताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों में उस रह का विश्लेषण नहीं। काव्यकार कालिदास का समय हूणों उत्पात और आतक से पूर्ण था, नाटकों में इस भाव का काश इस लिये नहीं है कि, वह शकों के निकल जाने पर ख-शाति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिंधु-तट पर देशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस

समय उत्तरीय भारत से उखड चुका था। 'शाकुतल' में हस्तिना-पुर के सम्राट 'वनपुष्प' मालवधारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखाई देते हैं, यह सभवत उस प्रथा का वर्णन है—जो यवन-सिल्यूकस-कन्या से चद्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुगवश मे प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में, राजकुल में था। यह काल, ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे, क्योंकि, 'शाकुतल' मे धीवर के मुख से कहलाया है—"पशु मारण कर्म्म दारुणोप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रिय" और भी—"सरस्वती श्रुति महती महीयताम्"—इन शब्दों पर बौद्ध धर्म्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिये हैं, उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व का माना गया है।

(३) 'मालविकाग्निमित्र' की कथा नाटककार ने जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पडती। शुगवशियों के पतन काल में विक्रमादित्य का मालवगण-राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुगों की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

(४) 'जामित्र' और 'होरा'—इत्यादि शब्द—जिनका प्रचार भारत मे ईसा की पाँचवी शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक में नहीं पाये जाते। और 'शकुंतला' की जिस प्रति का

न है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रन्थ-रत्नों का कर्ता एक
दास को न मानने से श्रद्धा बँट जाने का भय इसमें बाधक
रंतु, पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह
ठीक ही जँचेगी। हम ऊपर कह आये हैं कि, कालिदास
हुए, परंतु, जो लोग दो ही मानते हैं, वेही बता सकते हैं कि,
कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम
क और काव्य—सब बना डाला, अब वह कौन सी बची
कृति है—जिस पर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि
? क्योंकि, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि,
कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उसका नाम
नदास था। जैसी प्राय अब भी किसी वर्तमान कवि को
की शैली और उत्तमता देख कर, किसी प्राचीन उत्तम कवि के
से संबोधित करने की प्रथा-सी है। अस्तु। हम नाटककार
लिदास को प्रथम और ईसवी-पूर्व का कालिदास मानते हैं।

(१) नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का
त से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

(२) 'रघुवंश' आदि में असुरों के उत्पात और उनसे
ताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों में उस
ह का विश्लेषण नहीं। काव्यकार कालिदास का समय हूणों
उत्पात और आतंक से पूर्ण था, नाटकों में इस भाव का
कास इस लिये नहीं है कि, वह शकों के निकल जाने पर
ख-शांति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिंधु-तट पर
देशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस

समय उत्तरीय भारत से उखड़ चुका था। 'शाकुंतल' में हस्तिनापुर के सम्राट 'वनपुष्प' मालवधारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखाई देते हैं, यह सम्भवत उस प्रथा का वर्णन है—जो यवन-सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुंगवंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में, राजकुल में था। यह काल, ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे, क्योंकि, 'शाकुंतल' में धीवर के मुख से कहलाया है—"पशु मारण कर्म्म दारुणोऽप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रिय" और भी—"सरस्वती श्रुति महती नहीयताम्"—इन शब्दों पर बौद्ध धर्म्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिये हैं, उनमें, सौमिल्ल और कविपुत्र के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व का माना गया है।

(३) 'मालविकाग्निमित्र' की कथा नाटककार ने जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण-राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजी सी मालूम होती है।

(४) 'जामित्र' और 'होरा'—इत्यादि शब्द—जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ, नाटक में नहीं पाये जाते। और 'शकुन्तला' की जिस

हम उल्लेख कर आये हैं, उसमे स्पष्ट रूप से विक्रमादित्य से गण-राष्ट्र का सबंध साकेतिक है, और कालिदास का उस नाटक का स्वय प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसाङ्क'-उपाधिधारी विक्रमादित्य-नाम के मालवगणपति के परिषद् में हुआ था। इस लिये नाटककार कालिदास ईसवी-पूर्व प्रथम शताब्दी के हैं।

(५) नाटकों की प्राकृत में मागधी-प्रचुर-प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष-पीछे हुआ था। पाँचवीं, छठीं, शताब्दी मे महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारभ हो गई थी और उस काल के ग्रथो में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुतल' आदि की प्राकृत मे बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं, जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।

इसलिये, नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य-प्रथम (मालवपति) के समय—ईसवी-पूर्व प्रथम शताब्दी—में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। यह काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-वियोग का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो विल्हण को यह लिखने का साहस न होता—

सहोदरा कुकुम केसराणा भवन्ति नून कविता विलासा
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषा यदन्यत्र मया प्ररोह

५०० वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम बाहु चरित' में इसका

उल्लेख है कि, सिंहल के राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) से कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहाँ बुलाया (महावंश के अनुसार इसका राज्यकाल ५११ से ५२४ ईसवी तक है) यह राजा स्वयं अच्छा कवि था। 'जानकी हरण' इसका बनाया हुआ ग्रन्थ है—

जानकी हरण कर्तुं रघुवंशस्थितेसति
कविः कुमारदासोवा रावणोवायदिक्षम

सोड्ढल की बनाई हुई 'उदय-सुंदरी-कथा' में एक श्लोक है—

ख्यात कृती कोपि च कालिदास शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य
वाणीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र सिन्धो परपारमवाप कीर्ति
बभूवुरन्येपि कुमारदास —इत्यादि

मेरा अनुमान है कि 'सिन्धो परपार' में कालिदास और कुमारदास के संबंध की ध्वनि है।

'ज्योतिर्विदाभरण' को बहुत से लोग, ईसवी-छठीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं, और हम भी कहते हैं कि, हाँ वह ईसवी की पाँचवी शताब्दी के अंत और छठीं के प्रारंभ होने वाले कालिदास की कृति है। नाटककार से पीछे भिन्न, एक दूसरे कालिदास के होने का, और केवल काव्यकार होने का, उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है—

"काव्यत्रय सुमतिकृद्रघुवंश पूर्वं, पूर्वं ततोननुकियच्छ्रुति कर्मवाद,
ज्योतिर्विदाभरण काल विधान शास्त्रं श्री कालिदास कवितोहि ततो बभूव"

इस श्लोक में छठीं और पाँचवी शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता

मानते हैं, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इस लिये यह दूसरे कालिदास, नृपसखा कालिदास या दीपशिखा कालिदास कहिये—पाँचवीं और छठीं शताब्दी के कालिदास हैं। 'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेष'-वाली किंवदन्ती भी यही सिद्ध करती है कि, काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि थी, परन्तु, वास्तविक नाम क्या था ?

'राजतरंगिणी' में एक 'विक्रमादित्य' का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य 'मातृगुप्त'-नाम के एक कवि को दे दिया था। डाक्टर भाऊदा जी का मत है कि, यह मातृगुप्त ही कालिदास है। मेरा अनुमान है कि, यह मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु, द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रमादित्य, ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठवीं शताब्दी के माने जाते हैं।

महाराष्ट्री भाषा का काव्य 'सेतुबंध' (दह मुह वह) प्रवरसेन के लिये कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम दिखा आये हैं कि मातृगुप्त का वही समय है जो कि काश्मीर में प्रवरसेन का है, इसका नाम 'तुजीन' भी था। सम्भवत इसी सभा में रहकर, कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह अपनी पहिली कृति बनाई, क्योंकि, उस समय प्राकृत का प्रचार काश्मीर मे अधिक था। और यह वही प्राकृत है, जो उस समय समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप मे व्यवहृत थी, इसलिये, इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का विचार है कि, यह काव्य कालिदास् का नहीं

है, क्योंकि, इसमें पहिले विष्णु की स्तुति रूप मे मगलाचरण किया गया है, परन्तु, यह तर्क निस्सार है, कारण, 'रघुवश' में भी विष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और 'सेतुनध' मे तो स्पष्ट रूप से लिखा मिलता है कि, "इअ सिरि पवर सेण विरइए कालिदास कए।" जन यह काव्य प्रवरसेन के लिये बनाया गया तो यह आवश्यक है कि, उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने 'जयस्वामी' नामक विष्णु की मूर्ति बनवाई थी। वस्तुत कालिदास के लिये, शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, 'शाकुतल' के प्राकृत से 'सेतुनध' की प्राकृत अत्यत अर्वाचीन है, इसलिये, उसे काव्यकार कालिदास का मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। कालिदास के सस्कृत काव्यों तथा इस महाराष्ट्री काव्य मे कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिये—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तम सेतुनाफेनिलमम्बुराशिम्
—(रघुवश)

दीसइ सउ मरा वह दोहाइअ पुव्व पच्छिम दिसा भाअम्
—(सेतुबध)

× × × ×

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्
—(रघुवश)

मलअसुवेलालग्गो पडिट्ठिओ णहणि हम्मि सागरसलिले
—(सेतुबध)

× × × ×

३३

स्वच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्

—(मेघदूत)

णिअअच्छाआवइअरसामलइअसाअरोअरजलद्दन्तम्

—(सेतुबंध)

ऐसा जान पडता है कि किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त (कालिदास) में अनबन हो गई, और उसे राजसभा तथा काश्मीर को छोड़कर, मालव आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशोधर्म्म देव,— विक्रमादित्य नहीं थे। फिर संभवतः इन्हें स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पडेगा, क्योंकि तुजीन और तोरमाण के समय में काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिये, यह मिलता भी है कि, उसने "स काश्मीरान्सकौवेरीकाष्ठाश्चकरदी कृता"। यह स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की ही वदान्यता थी कि, काश्मीर-विजय करके, उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है कि, कुमारगुप्त की सभा में दिङ्नाग के दादा गुरु मनोरथ को हराने में कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय ४५५ ई० तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य वसुबंधु, और उनका शिष्य दिङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। संभवतः उसीका प्रतिकार—"दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्"—से किया गया है, क्योंकि, प्राचीन टीकाकार

सूरि
मल्लिनाथ भी इसको मानते हैं। दिङ्नाग का गुरु वसुबधु, अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद था। बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने उसकी जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यालकारसूत्रवृत्ति के अधिकरण ३, अध्याय २ मे साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुए, एक श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है—

"सोय सप्रति चन्द्रगुप्त तनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रय कृतधिया दिष्ट्या कृतार्थ श्रम"
"आश्रय कृतधियामित्यस्य वसुबधु
साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्"

यह अयोध्या के विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त* का तनय चन्द्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। वसुबधु के गुरु मनोरथ का अन्त और उसका सभा में पराजित होना, स्वय बौद्धों ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष से दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी

* विक्रमादित्यइत्यासीद्राजापाटलिपुत्रके (कथा सरित्सागर)
यह द्वितीय चद्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये आया है। बौद्धों ने अयोध्या में इसकी राजधानी लिखा है। सभवत, मगध की साम्राज्य सीमा बढ़नेपर, अयोध्या में सम्राट कुछ दिनों के लिये रहने लगे हों। परन्तु, उज्जयिनी में इसका शासन होना, किसी भी लेखक ने नहीं लिखा है। इसके पुत्र कुमारगुप्त ने 'महोदय' को विशेष आदर दिया, क्योंकि साम्राज्य धीरे धीरे उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। वस्तुत, उस समय राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ गुप्त सम्राट लोग कुसुमपुर को प्रधानता रखते हुए सुविधानुसार अपने रहने का स्थान बदलते रहे हैं, क्योंकि, उन्हें सैनिक केन्द्रों को बराबर परिवर्त्तन करना पड़ता था।

वना। अब यह मान लेने में कोई भ्रम नहीं होता कि मातृगुप्त किशोर अवस्था में कुमारगुप्त की सभा में था, वही कालिदास, स्कदगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे। कुमारगुप्त का नामाङ्कित एक काव्य भी (कुमारसभव) बनाया। यह बात तो अब बहुत से विद्वान मानने लगे हैं कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवश का व्यञ्जना से वर्णन है। हूणों के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसभव में है।

भितरीवाले स्कदगुप्त के शिलालेख में एक स्थानपर उल्लेख है—

"क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा"

तो 'रघुवश' में भी—

"सललितकुसुमप्रवालशय्या, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपति रतिवाह्या बभूव क्वचिद समेत परिच्छद त्रियामाम्' —

मिलता है। स्कदगुप्त के शिला-लेखों में जो पद्य रचना है, वह वैसी ही प्राञ्जल है जैसी रघुवश की—"व्यपेत्य सर्वान् मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मी स्वय य वरयाचकार"—इत्यादि मे रघुवश की-सी ही शैली दीख पड़ती है। "स्कन्देनसाक्षादिव देवसेनाम्" —इत्यादि मे स्कदगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है। और कुमारगुप्त का तो बहुत उल्लेख है। रघुवश के ५,६,७ सर्ग में तो अज के लिये 'कुमार'-शब्द का प्रयोग कम-से-कम ११ बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के सबध मे यह प्रसिद्धि है कि, उनका अतिम जीवन पराजय और दु खों से भी सबध रखता है। वस्तुत चन्द्रगुप्त के जीवन-काल में साम्राज्य वृद्धि को छोड़

कर ह्रास नहीं हुआ। यह स्कंदगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षडयन्त्र और विपत्ति तथा कष्टों का सामना करना पडा। जिस समय पुरगुप्त के अन्तर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड कर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाई, और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था, उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियत किया गया। यह समय ईसवी-सन् ४५० से ५०० के बीच पडता है। ४६७ ई० में स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का अंत हुआ। उसी समय मातृगुप्त (कालिदास) ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड दिया और काशी चले आये। अब बहुत से लोग इस बात की शंका करेंगे कि, कहाँ उज्जयिनी, कहाँ मगध, कहाँ काश्मीर, फिर काशी, और सब के बाद सिंहल जाना,—यह बडा दूरान्वय संबंध है। परंतु, उस काल में सिंहल और भारत में बडा संबंध था। महाराज समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेज कर, बोधगया में एक विहार बनाने की प्रार्थना की थी, महावंश और समुद्रगुप्त के लेख में इसका संकेत है, और महाबोधि विहार—सिंहल के राजकुल की कीर्त्ति है। तबसे सिंहलके राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोधगया से लाया हुआ पटना-म्यूजियम में एक शिलालेख है—(नं० ११३) यह प्रमाण प्रख्यातकीर्त्ति का है—"लङ्काद्वीपनरेन्द्राणां श्रमणः कुलजोभवत्। प्रख्यात कीर्त्ति धर्मात्मा स्वकुलाचार चन्द्रमा।" महानामन के शिलालेख में भी इसकी पुष्टि होती है—

"सयुक्तमार्गमिनो विशुद्धरजस सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्यायस्य सकृद्विचेरतुलाल्ङ्काचलोपत्यकां
तेभ्य शीलगुणान्वितश्च शतश शिष्या प्रशिष्या प्रभाव्
जातास्तुगनरेंद्रवशतिलका प्रोत्मृज्य राज्यश्रियम्"

जब राजकुल के श्रमण और राजपुत्र लोग यहाँ तीर्थयात्रा के लिये बराबर आते थे, और सकृत-कविता का प्रचार भी रहा हो, तब, उस काल के सर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा भी होना स्वाभाविक है। और उस नष्टाश्रय महाकवि के साथ मैत्री करने में धन्य समझने वाले कुमारदास की कथा में अविश्वास का कारण नहीं है। यदि स्कदगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर निर्विण्ण होकर राजमित्र के पास सिंहल जाना इनका ठीक है, तो यह कहना होगा कि 'मेघदूत' उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कंदराज प्रतिमा उनकी आँखों से देखी हुई थी—जिसका वर्णन उन्होंने "देवपूर्व गिरि ते—" वाले श्लोक में किया है।

यदि ५२४ ई० तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवश का ह्रास भी भली भाँति देख लिया अथवा सुना होगा। रघुवश में वैसा ही अतिम पतन-पूर्ण वर्णन भी है।

कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना, और सिंहल में कालिदास के जाने की रूढि उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री का कालिदास का मनोरथ को हटाना, दिङ्नाग और कालिदास का द्वद, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उसी काल का उल्लेख, हूण राजकुल में 'सुगयून'के अनुसार विग्रह, कारमीर युद्ध की देखी हुई घटना,—

ये सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी मिल जाती हैं कि दूसरे काव्यकार कालिदास को विक्रम सखा, दीपशिखा कालिदास को मातृगुप्त मानने में कुछ भी सकोच नहीं होता। जैसा डाक्टर भाऊदाजी का मत है।

विक्रमाङ्क के समान भोज के पिता सिन्धुराज की पदवी 'साहसाङ्क' थी। पद्मगुप्त परिमल ने 'नव साहसाङ्क-चरित' बनाया था। तञ्जौर की 'साहसाङ्क चरित' वाली प्रति में इनको भी कालिदास लिखा है। बहुत सभव है कि, यह तीसरे कालिदास बङ्गाल के हों, जैसा कि बगाली लोग मानते हैं। ऋतु-सहार, पुष्पबाण-विलास, शृगार तिलक और अश्वधाटी-आदि काव्यों के रचयिता सभवत यही तीसरे कालिदास हो सकते हैं।

× × × ×

मुझे इस नाटक के सम्बन्ध में भी कुछ कहना है। इसकी रचना के आधार में ऊपर दो मन्तव्य स्थिर किये गये हैं, पहला यह कि उज्जयिनी का परदुःखभजन विक्रमादित्य गुप्तवशीय स्कदगुप्त था, दूसरा यह कि मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने रघुवश आदि काव्य बनाये।

स्कदगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध होता है। क्षिप्रा से तुम्बों में जल भर कर ले आने वाले, और चटाई पर सोने वाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कदगुप्त के ही साम्राज्य के खडहर पर भोज के परमारपुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परतु मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष सम्बन्ध है, हो सकता है कि आगे चलकर

कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलजाय, परन्तु मुझे उसके लिये कोई आग्रह नहीं। इसलिये हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का काश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका काश्मीर-राज्य छोड देता है, और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिये इस नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है। बधुवर्म्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, तोरमाण, प्रख्यातकीर्त्ति, भीमवर्म्मा (इसका शिलालेख कोशाम्बी में मिला है), गोविन्दगुप्त, आदि सब ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इसमें प्रपचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं। स्त्रीपात्रों में स्कद की जननी का नाम मैंने देवकी रखा है, स्कदगुप्त के एक शिलालेख में—"हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत" मिलता है। सम्भव है कि स्कद की माता के नाम देवकी ही से कवि को यह उपमा सूझी हो। अनन्तदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप में मिलता है। यही पुरगुप्त स्कदगुप्त के बाद शासक हुआ है। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र, दोनों हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा, और मालिनी-जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल में सम्भावना है। तब भी ये कल्पित हैं। पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध, चरित्र की सृष्टि जहाँ तक सभव हो सका है, न होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पडा है, केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिये।